MATRICULATION HINDI SELECTIONS

REVISED EDITION
(Reprint)

UNIVERSITY OF CALCUTTA

MATRICULATION HINDI SELECTIONS

REVISED EDITION (Reprint)

UNIVERSITY OF CALCUTTA 1946

PRINTED IN INDIA

PRINTED AND PUBLISHED BY DINABANDHU GANGILEE B.A. SUPERINTENDENT, CALCUTTA UNIVERSITY PRESS 48, HAZRA ROAD, BALLYGUNGE, GALCITTA

1584 B.T —January, 1946 —A

सूचीपव

गद्यांश

		पृष्ठ
१। महारानी दमयन्ती—राजा शिवप्रसाद	•••	1
२। प्रीति—पं वालकषा भर्ह	••	12
। र्श्रंधेर-नगरी—भारतेन्दु इरिश्चन्द्र 💉	•••	15
४। 🗸 चमा — साहित्याचार्थ्य पं॰ श्रम्बिकादत्त व्यास 🖍	•••	31
५। भोषाकी ग्ररग्रय्या—पं॰ महावीरप्रसाद द्विवेटी	•••	35
। / चिन्दी भाषा—वाबू वालमुकुन्द गुप्त	••	45
७। हिन्दी का है—बाब् राधाक खदास	•	53
८। ४नाटक और उपन्यास—बाब् गोपालराम गहमरी	•	58
८ 🗸 भारतेंदु हरिश्चंद्रबाबू ग्यामसुन्दरदास	•	65
र॰।√भगवान् श्रीक्षण्—पं॰ पद्मसिंह शर्मा	•	73
११। र् सज्जनताका दग्ड—श्रीप्रेमचन्द 🐔 .		79
१२। 🗸 सर आश्रतीष मुखीपाध्याय—लाला शिवनारायण	लाल	4 90
१३।- सोज़न डल हैपं॰ रामनरेश त्रिपाठी		101
१४। श्रमर जीवन-श्रीसुदर्शन	••	110
१५। - घोडेको जीवनी-पार्ख्य वेचन ग्रम्मा 'उग्र'	••	120
१६ । [ृ] रामायण (त्र्रयोध्याकार्ग्ड)के सुख्य पात्नोंपर धर्म-सं	ांकट	
श्रीर उनका निर्वाह—एं० बलभद्रप्रसाद मिश्र		131

स्चीपत्र पद्यांश

•		पृष्ठ
१। चेतावनी—कबीर माहब		1
२। उपदेश ,,		6
श काम "		9
४। क्रोध "		10,
५। लीम "		10.
६। मोच "	• •	11
७। त्रहङ्कार ,,	•	12
^{८८} ५∕स्रदासके पद—स्रदास	• • •	12
<u> ० भ्रिदामा-चरित—नरोत्तमदास</u>	••	22
, १० ∤∕परश्रराम-लच्मण संवाद—'तुलसीटास	• • •	28
११। विनय-पत्रिका—तुलसीदास	• • •	42
	• • •	50
१३।।√नीति-सामयिक उपदेश (∙कुर्ण्डलियां)-	-गिरिधर	
कविराय	•••	55·
१४। 🗸 मयंक-महिमा—पं० बटरीनारायण चौधरी	• •	62
१५ ।√रंक-रोदन—पं॰ नाष्ट्राम शंकर शर्मा 🚩	•	6 4
१६। जगत सचाई सार—पं० श्रीधर पाठक	•	70 [.]
१७ प्रिय प्रवास—पं॰ अयोध्या सिंह उपाध्याय १९८। चांदनी—लाला भगवान दीन	•	75·
१९८। चांदनी—लाला भगवान दीन	• •	86,
१८। चमेली—पं॰ मन्नन द्विवेदी गजपुरी	•••	87
२०। जयद्रथ वध—बाब मैथिलीशरण गुप्त	• • •	88
√२१ I\्मा ल्मू मि—	» • •	101

सूचीपत्र		1/
		मृ ष्ठ
२२। अन्वेषण—पं॰ रामनरेश त्रिपाठी े	•	107
२३। घटबाब् सियारामशरण गुप्त	•••	110
२४। उद्गार—पं॰ मुकुटधर पांडिय	••• ,	111
२५। अभिलाषा—श्रीमती तोरनदेवी शक्त	•	112
२६। √श्रांस्—श्रीयुक्त मोचनलाल मचतो .५	••	113
२७। रिमरा नया बचपन-श्रीमती सुभद्राक्कमारी चीद्वान		114
२८। 🗸 वालिका का परिचय— "	•••	118
२८। / हिमालय—वाव रामधारी सिंह 'हिनकर'		120

MATRICULATION HINDI SELECTIONS

गद्यांश

महारानी दमयन्ती 😉

[राजा शिवप्रसाद (सवत् १८८०-१८५२ वि०)—इन्होंने जिस समय (लगभग स० १८०२) हिन्दी गरा लिखना श्रारमा किया. उस ममय कचहरियों की भाषा उर्दू ही चुकी थी। ये चाहते थे कि लिप नागरा हो श्रीर भाषा ऐसी चलती टेट हिन्दी हो जिसमें सर्वसाधारण के बोच प्रचलित श्रारवी फारसी गव्हों का भी प्रयोग हो, जिससे उर्दू पटे लिखे लीग विरोध न करें श्रीर मर्वव हिन्दी का प्रचार हो—इसी उद्देशसी इन्होंने मिश्रित हिन्दी लिखना श्रारमा किया। इन्होंने सेकडों पाट्यपुक्त लिखी श्रीर लिखनायी। प्रारमा की पुक्त लिखी वे थोडी संस्तत मिली टेट श्रीर सरल हिन्दीम थी। उनमें वह सर्दू पन नहीं भग था जो उनकी पिछली कितायों में दिखाई पड़ता है।

विदर्भराज भीमसेनके एक वेटी थी, जिसका नाम दमयन्ती था। वह अत्यन्त रूपवती और गुणवती थी। उसके अन्प रूप गुणोंकी प्रशंसा दूर दूर तक फैल गई थी। जब वह व्याहने योग्य हुई, तब तत्वालीन राजाओंकी प्रथाके अनुसार उसके विवाहके लिये खयंवर रचा गया। खयंवरमें सिमालित होनेके लिये दूर दूरसे राजागण गये। जो राजा लोग खयंवरमें गये, उनमें निषध-देशाधिपति वीरसेनके पुत्र राजा नल भी थे। राजा नल भति

सुशील, धर्मात्मा एवं सर्वगुणसम्पन्न थे। जब जयमास पहनाकर वर वरण करनेका समय उपस्थित हुन्ना, तब दमयन्तीने राजा नलके गुण श्रीर रूपपर मुग्ध होकर उनको वरण किया श्रीर राजा नलके साथ दमयन्तीका विवाह हो गया। बारह वर्ष तक वे दोनों बड़े श्रानन्दसे रहे। इस बीचमें उनके एक लड़का श्रीर एक लड़की हुई।

राजा नलको पांसेका खेल खेलनेका दुर्श्यसन था। दुर्श्यसन इसलिये कि इस खेलसे सदा लोगोंका अनिष्ट होता आया है। दूसी खेलके कारण भारतका गौरव और राज्यश्री नष्ट हुई। कीरवीं और पाग्डवोंके घोर और वीर-नाग्रकारी महायुद्धका मुख्य कारण यही था। जहां पांसे रहते हैं, वहांसे सुमति, सेह, प्रीति एवं सीजन्य स्वयं चल देते हैं। इसका प्रमाण राजा नलका व्रतान्त है, जो आगे लिखा जाता है। राजा नलके एक भाई था, जिसका नाम पुष्कर था। उसीके साथ वे पांसेका खेल खेला करते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि धीरे धीरे दांव लगाते चुए राजा नल सारा राज्य द्वार गर्य। एक धोतीको छोड़ उनके पास कुछ भी न बचा। अब दमयन्तीको साथ ले घरसे निकले। दमयन्तीने बुिंदमानीका कामकर लड़के लड़कीको पहिले ही अपने पिताके घर भेज दिया था। निष्ठ्र-हृदय पुष्करने अपने राज्यमें यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो कोई राजा नलको अपने घरमें आश्रय देगा, उसे प्राण्दंड दिया जायगा।

राजा नलको तीन दिन और तीन रात अन तो अन, जल तिक बिना पिये ही व्यतीत करने पड़े। अन्तमें वे कन्द मूल

एवं फलोंसे अपना और रानीका पेट-भर दिन व्यतीत करने स्तरी। बनके संकटोंको देख राजा नखने दमयन्तीको समभा वुभाकर पिताके घर जाकर रहनेका श्राग्रह किया, क्योंकि दमयन्ती बड़ी सुनुमारी थी। किन्तु दमयन्तीने नलको ऐसे संकटमें क्रोड़कर खयं राजभवनींमें रहना स्वीकार न किया श्रीर कचा-"प्राणनाथ। श्रापके सुखसे ऐसा कठोर वचन क्योंकर निकला ? श्रापका साथ छोड़कर पिताके घरमें रहनेसे क्या मैं अधिक सुखी हो सकती हं ? क्या खाना पीना आपके दर्पन-सुखसे बढ़कर है ? आप भले ही मेरा त्याग कर दें, पर मैं आपका पन्ना नहीं छोड़ सकती। यदि आप फिर कभी सुभसे ऐसा कठोर वचन कहेंगे, तो मैं अपने प्राण तज टूंगी।" इतना कह दमयन्ती एक पेडके नीचे सो गई। किन्तु राजा नलको नींद न श्राई। वह श्रपनी उपस्थित दशा पर विचार करते हुए मन ही मनमें वहने लगे—"हा ! जो दमयन्ती राजभवनमें पुष्पश्रया पर पैर रखते भी मिद्धित होती थी, त्राज वही इस विकट बनके कंटकाकी एँ दुर्गम पयों पर क्यों कर चल सकेगी? सुभी अपनी चिंता नहीं; किन्तु सुभसे दमयन्तीकी दुर्दशा नहीं देखी जायगी। दु:ख इस बातका है कि यह मेरा साथ छोड़ना नहीं चाइती। एक उपाय है। यदि मैं इसे इसी प्रकार सोती कोड़कर चल दूंतो यह किसी न किसी प्रकार अपने पिताके घर पहुंच जायगी।" इसी प्रकार सोच राजा नल श्रपने जीको कड़ा कर और दमयन्तीको वहां छोड़, एक और चल दिये। किन्तु चलनेके पूर्व दमयन्तीकी आधी साड़ी फाड़कर अपनी · कमरमें लपेट ली, क्योंकि वे अपनी धोती गंवा चुके थे। राजा

नलने चिड़िया पकड़नेने लिये उसपर अपनी धोती फेंनी थी, किन्तु चिड़िया उस घोतीको लिये हुए उड़ गई थी। राजा नल चल तो दिये, पर उनसे रहा न गया। उस समय अपने जीको विकलता वही जानते थे। थोड़ी दूर जाकर वे दमयन्तीके देखनेको फिर लीट आये, किन्तु कुछ सोच समस्कार वे वहांसे फिर चल दिये।

इस प्रकार जब राजा नल दूर निकल गये, तब दमयन्तीकी नींद टूटी। राजा नलको अपने पास न देख, दमयन्तीका हृदय वेगपूर्वक धड़कने लगा और वह सिर धुनकर विलाप करने लगी। उसके नितांसे अविराम आंदुओंकी धारा बह रही थी। बारस्वार मूर्छित हो भूमिपर गिरती थी और पुकार पुकारकर कहती थी— "है प्राणप्यारे, मैंने कीन सा अपराध किया था जो मुभ्ने अकेली इस निर्जन बनमें छोड़कर आप चल दिये! क्या आप विवाहके समयकी प्रतिज्ञा भूल गयं? उस समय क्या आपने नहीं कहा था कि जीते जी हम तुमसे अलग न होंगे? महाराज, बहुत हुआ, अब बिलस्ब न लगाइये। तुरन्त आकर इस अनाथाको सनाथा कीजिये।" दमयन्तीका करण क्रन्दन सुन बनके जीव-जन्त, चर-अचर तक विकल हुए।

जब राजा नल बहुत देर तक लौटकर न ग्राये, तब उनके लौटनेकी ग्रामा छोड़, दमयन्ती उठी ग्रीर रोती बिलखती उस दुर्गम बनमें चारों ग्रोर घूमने लगी। इतनेमें ग्रचानक उसपर एक ग्रजगरने ग्राक्रमण किया ग्रीर चाहा कि उसे निगल ले। किन्तु सौभाग्यवम दमयन्तीका चिल्लाना सुन एक बहेलियेने ग्राकर दमयन्तीको उस विपक्तिसे उबारा ग्रीर एक बाणसे ग्रजगरका

काम तमास कर दिया। अजगर यदि दमयन्तीको निगल जाता तो वह सारे सांसारिक कष्टोंसे छुटकारा पा जाती , किन्तु अभी उसकी भाग्यमें अनेक कष्ट भिलने बंदे थे, सो कर्मकी गांठ इतनी जल्दी क्योंकर ट्रट सकती थी। वह बहेलिया दमयन्तीके लिये उस अजगरसे कहीं बढ़कर कप्टरायी हुआ। तब अन्य उपाय न देख टमयन्तीने सर्वव्यापी एवं सर्वान्तर्यासी भगवान्को सारणकर प्रार्थना की। दसयन्ती त्रात्तंस्वरसे कहने लगी- "हे दीनदयालु। हे अनाघोंके नाघ। हे दयासिन्धु। हे अग्ररणग्ररण। वात्सच्चगुण-सागर। इस दुष्टके हाथसे मेरी रचा कीजिये।" भगवान् बडे वडे दानी एवं यज्ञ करनेवाले राजा सहाराजाश्रोंकी उपेचा भले ही कर डालें श्रीर उन्हें कर्मबंधनसे मुक्त न करें, किन्तु दयासय भगवान् भक्तोंके आर्तनादकी अवहेलना नहीं करते चीर भत्तोंकी कर्सवंधन तुरंत काट देती हैं। ("अवश्वमेव भोताव्यं क्ततं कर्म ग्रभाग्रभम्' का नियस सगवद्गतींके लिये नहीं है। नियम उन लोगोंकी उन्नतिमें बाधक है, जो अपने पुरुवार्थपर निर्भर रच्चकर ज्ञान- अथवा कर्म-काग्ड द्वारा उसके समीप पच्च चनेका प्रयत किया करते है।) जैसे राजाके विशेष क्रपापाचींके लिये कोई नियम नहीं है, वैसे ही उन भगवइत्तोंने लिये, जिनको दयामय भगवान्ने अपना लिया है, कोई नियम नहीं। दमयन्तीकी करणा भरी प्रार्थना सुन, भगवान्का कोमल हृदय दयासे आई हो गया और उन्होंने दमयन्तीके उदारका उपाय भी तुरन्त ही रच दिया।

जब बहे लियेने देखा कि दमयन्ती मेरा कहना नहीं मानती, तब वह उसपर ऋड हुआ और दमयन्तीको मारनेके लिये उसने बाण चलाया। पर वह बाण दमयन्तीके न लगा, उस पापी ही के लगा और वह जहांका तहां गिर गया और मर गया। तदनन्तर दमयन्ती हाथी, सिंह आदि बनैले हिंसक जन्तुओं से अपने आपको बचाती और अनेक पहाड़ों तथा जङ्गलों में भटकती सुबाहु नगरमें पहुंची। वहां वह रानी के पास दासी बनकर समय व्यतीत करने लगी। संयोगवश उसे ढूंढ़ते हुए उसके पिताके भेजे ब्राह्मण सुबाहु नगरमें जा निकले और उसे विदर्भ नगरको लिवा ले गये।

डधर राजा नल घूमते फिरते अयोध्या पहुंचे और अपना नाम बाहुल रख, वहांके राजा ऋतुपर्णके सारधी बनकर रहने लगे। विदर्भ-राजने राजा नलके ढूंढ़नेके लिये नगर नगर गांव गांव ब्राह्मण भेजे। डनमें से एक ब्राह्मणने अयोध्यासे लीटकर यह समाचार सुनाया कि राजा ऋतुपर्णका बाहुक नामक सारधी दमयन्तीका नाम सुनकर डदास हुआ और आंखोंमें आंसू भर लाया। बहुत पूछने पर भी उसने अपना विशेष परिचय नहीं दिया। यह सुनते ही दमयन्तीको निश्चय हो गया कि बाहुक बनकर राजा नल ही अयोध्यामें दिन काट रहे हैं। दमयन्तीने अपने पितासे कहकर राजा ऋतुपर्णके पास एक संदेशा भेजा। वह यह या कि अब राजा नलके आनेकी आशा जाती रही; अतः दमयन्ती दूसरा वर वरण करेगी और इसके लिये दूसरी खयंवर सभा होगी। उस सभामें आप भी पंघारें।

किन्तु खयंवरका दिन इतना समीप नियत किया कि राजा नलको छोड़ कोई भी इतने समयमें घोड़े हांककर अयोध्यासे विदर्भ नगरमें नहीं पहुंच सकता था। राजा नल अख-सञ्चालन विद्यामें वड़े निपुण घे। जब राजा ऋतुपणेंने यह संवाद सुना, तब उनको वड़ी चिन्ता हुई कि इतने घोड़े समयमें हम क्योंकर इतनी दूर पहुंच सकेंगे। यह बात सुनकर बाहुक नामधारी राजा नलने नस्तापूर्वक कहा कि श्राप चिन्ता न करें। मैं निर्देष्ट दिनसे पहले ही श्रापको विदर्भ नगरमें पहुंचा दूंगा।

अन्तमं बाहुकाने जैसा कहा था, वैसा हो किया। निर्दिष्ट दिनके पूर्व ही राजा ऋतुपर्ण वहां पहुंच गये। राजा भीमसेनने श्रयोध्या-नरेशका बड़ा श्रागत खागत किया। किन्तु राजा ऋतुपर्श वहां खयंवरकी तैयारियां न देख ग्रीर दूसरे किसी राजाके वहां पहुं चनेकी सूचना न पा अत्यन्त विस्नित श्रीर लिज्जित हुए। वाहुक रथको राजा भीमसेनकी अखशालामें खोलकर खयं एक चारपाईपर विश्वाम करनेके लिये पड़ रहा। दमयन्तीने श्रयोध्या-नरेशके ग्रागमनकी सूचना पाकर केशिनी नाम्नी ग्रपनी एक चतुर सखीको राजा नलकी टोइमें अखशालाकी और भेजा। नलको खाटपर पडा देख केशिनीने उनसे कहा—टमयन्ती श्रापका कुशल संवाद पूछती है। नलने बात उडाकर कहा—में श्रयोध्या-नरेशका सारयी इं। बाहुक मेरा नाम है। राजा ऋतुपर्श खयंवरमें सिमालित होनेके लिये यहां पधारे हैं। उन्हें लेकर मैं यहां श्राया हं। पर यह वहे श्राश्चर्यकी बात है कि राजा नलकी भार्था दमयन्ती पतिव्रता होकर परपुरुषके साथ विवाह करना चाहती है। क्यों न हो। (यह सब दिनोंका प्रभाव है। मनुष्यके खोटे दिनोंमें जब निज शरीर तक उसका साथ नहीं देता, तब स्ती श्रीर संतानका कहना ही क्या है।) इसपर केशिनीने कहा—

"हे बाहुक। क्या तुम राजा नलका भी कुछ हाल जानते हो ?

ज़रा सोचो, राजा नलने दसयन्तीके साथ कैसा निष्ठुर व्यवहार किया! उस सोती हुई अवलाको निर्जन बनमें अकेली छोड़ न जाने वे किथर चल दिये। दसयन्तीको देखो, वह कैसी सली है कि इसपर भी उसने कुछ ध्यान न दिया और वह अन्नजल छोडकर सदा उनका नाम जपा करती है।"

दसयन्तीका हाल सुन बाहुकसे न रहा गया श्रीर उसकी श्रांखोंसे श्रश्च प्रवाहित होने लगा। श्रन्तमें बाहुकने कहा—

ची भने ही पित द्वारा सताई जाय, पर श्रीरोंने सामने उसे पितनी बुराई करना उचित नहीं। दमयन्तीको कदाचित् यह बात नहीं सालूम कि यदि राजा नल दमयन्तीको बनमें न छोड़ जाते, तो उनके प्राण बचना कठिन था। तिसपर भी यदि राजा नलसे निद्यताका कोई काम बन भी पड़ा हो तो दमयन्तीको श्रीभा इसीमें है कि वे उनका अपराध चमा करें; क्योंकि दुःख पड़ने पर मनुष्यकी बुद्धिका ठीक रहना कठिन है।

यह कहनर राजा नल उदास हुए श्रीर रोने लगे। केशिनीने इसपर राजा नलसे कुछ भी न कहा श्रीर दमयन्तीसे जाकर सारा हाल कहा। सुनते ही दमयन्तीको निश्चय हो गया कि बाहुक ही राजा नल हैं। दमयन्तीने फिर केशिनोको राजा नलके पास भेजा: श्रीर इस बार उसके साथ श्रपना लड़का श्रीर लड़की भी कर दी। उन दोनोंको देख राजा नलके नेतोंमें श्रांस भर श्राये श्रीर उन्हें छातीसे लगा वे बोले—"ऐसे ही बेटा-बेटी मेरे हैं; बहुत दिनोंसे मैंने उन्हें नहीं देखा। इन्हें देख श्राज सुम्मे श्रपनी सन्तानका समरण हो श्राया। इन्हें ले जा श्रीर माताके पास कर श्रान श्राज ये नलके श्रनाथ लड़के कल किसी दूसरेके

कच्चावेंगे। चियां ही धन्य हैं जो एक पतिको छोड़कार दूसरा पति कर लेती हैं। कल मैं भी देखूंगा कि राजा नलकी पतिव्रता ची दमयन्ती किसको वरण करती है।"

यह सुन केशिनी दसयन्तीके पास गई श्रीर जो देखा सुना था, सो उससे कहा। फिर वह बोली कि यह तो कोई विचित्र मनुष्य जान पड़ता है, क्योंकि रसोंईका जितना सामान राजा ऋतुपर्णके लिये भेजा गया था, उसने बातकी बातमें सब बना डाला। यह सुन दमयन्तीने केशिनीको वाहुकके बनाये हुए सब सामानमेंसे थोडा थोडा ले श्रानेको फिर भेजा। केशिनी जाकर मांग लाई। उसे चखते ही दमयन्तीका रहा सहा सन्देह दूर हो गया, क्योंकि उन पदार्थोंमें वैसा ही खाद था, जैसा राजा नलके बनाये पदार्थीं में होता था।

तदनन्तर दमयन्ती अपनी साताक पास गई और बोली—
"माताजी। यदि आज्ञा हो तो मैं अक्ष्णालामें जाकर उनसे मिल
आजं।" माताने वेटीको तुरन्त आज्ञा हो। दमयन्ती तिसपर
भी अकेती न गई और अपने साथ अपने वेटे वेटीको लेती गई।
राजा नलको और उसके जर्जरित जीण कायको देख दमयन्ती रोने
लगी। जब वह सावधान हुई, तब राजा नलसे बोली—
"प्राणनाथ। सुभ अवलाको आप बनमें अकेली छोड़कर क्यों चल
दिये थे ?" इस प्रश्रके उत्तरमें लिज्जत हो राजा नलने कहा—

"क्या तुमको विश्वास है कि मैंने जान बूभकर तुम्हारा साथ कोड़ा ? सच तो यह है कि जिस निर्बुद्धिता में पड़कर मैंने सारा राजपाट गंवाया, उसीके फेरमें पड़ तुम्हारा भी विक्रोह हुआ। तुम्हारे विक्रोहमें सुभपर जो बीती उसे मेरा यह शरीर ही जान सकता है। किन्तु जो पतिव्रता होती हैं, वे अपने खामीमें अवगुण देखकर भी उसकी निन्दा नहीं करतीं। जाने भी दो; अब इन बातोंमें क्या रखा है, क्योंकि कल तो तुम दूसरेकी हो ही जाओगी।"

दमयन्तीने हाथ जोड़कर कहा—"श्रापको यहां बुलानेके लिये ही यह सारा जाल रचा गया था। क्या श्रापको विखास हो गया कि मैं दूसरेके साथ विवाह कर लूंगी ? यदि ऐसा होता तो अकेले राजा ऋतुपर्ण हो को क्यों पत्र भेजा जाता ? श्रन्थ नरेश भी तो श्राज यहां श्राये होते। मैं तो श्रपने मनमें ठान चुकी थी। यदि श्राज श्रापसे भेंट न हुई होती तो मैं जलती श्राग में कूदकर प्राण दे टेती।"

इस प्रकार उन दोनों में बातें हो चुकनेपर दोनों के मनका बोभ हलका हुआ और पूववत् दोनों एक हुए। होते होते यह संवाद राजा भीमसेन और ऋतुपर्णने सुना। उनको इससे बड़ी प्रसन्ता प्राप्त हुई। राजा नलसे मिलकर अयोध्या-नरेशने नम्नतापूर्वक कहा—"महाराज। सुभसे बड़ी चूक हुई। मैंने आपको नहीं पहचाना; इसिंखिय अनजाने आपको सारधीका काम सौंपा। आशा है, आप सुभी इस अपराधके लिये चमा करेंगे।"

यह कह राजा ऋतुपर्ण अपनी राजधानीको गए। भीमसेनने राजा नलसे कहा—"आप अपनी राजधानीमें न जाकर यहीं रहें श्रीर मेरा राज्य ले लें। "परन्तु राजा नलसे अपनी पद-मध्यादाको जाननेवाले पुरुष, ससुरालमें रहकर, क्यों समय बिताने लगे थे? यदि उनको ससुराल ही में रहना होता, तो वे दमयन्तीको छोड़ अयोध्यामें क्यों सार्थी बनते? राजा भीमसेनने उन्हें इसपर एक

रघ, सोल हहाथी, ५०० घोड़े श्रीर ६०० प्यादे देकर विदा किया; पर दमयन्तीको न जाने दिया श्रीर उसे उसके बच्चोंके सहित श्रपने पास ही रखा।

राजा नलने अपनी राजधानीमें पहुंचकर पुष्करके साथ फिर चौपड़ खेली। खेलनेके पूर्व दोनोंमें यह प्रतिज्ञा हो गई थी कि जो हारेगा, वह जीतनेवालेका दास होकर रहेगा और जितनी सम्पत्ति उसके अधिकारमें होगी, वह जीतनेवालेको दे देगा। इस बार भगवान्की दयासे नल जीते और पुष्कर हारा। पुष्कर मारे डरके थर थर कांपने लगा। पर दयालु राजा नल इतने नहीं गिर गये थे कि भाईके अपकारका बदला अपकारसे देते। उन्होंने भाईसे कहा—"तुम डरो मत। मैं तुमसे अप्रसन्न नहीं हं। मैंने जो कुछ कष्ट भोगा, वह दिनोंके फिरसे, तुम्हारे कारण नहीं। तुम जैसे पहले काम करते थे, वैसे ही करते रहो।" अनन्तर राजा नलने दमयन्तीको और अपने वेटे-वेटीको भी अपने पास बुलवा लिया और चिर काल तक आनन्द-पूर्वक राज्य करते रहे।

प्रीति

[पिंडित बालक्षण भट्ट (सवत् १८०१-१८७१ वि०)—''इन्होने स० १८३३ मे गद्य-साहित्यका दर्श निकालनेके लिये ही हिन्दी-प्रदीप निकाला था। सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, कैतिक सब प्रकारके छोटे छोटे गद्य प्रबन्ध ये अपने पत्रमें बत्तीस वर्ष तक निकालते रहे।"]

प्रीति एक ऐसी सनोष्टत्ति है जो खभावतः विध्वासपरायणा सरला खच्छदर्शना क्रारवितिशून्या एवं कुसुम सदृश कोमला श्रीर संसारकी सार वस्तु है किसी कारणसे वा स्वार्थसाधन निमित्त बहुधा इस संसारमें लोग प्रीतिबद्ध हो जाते हैं पर चन्द्र-ज्योत्स्ना सदृश निर्मला और हृदयानन्ददायिनी जो प्रीति है वह बिना कारणके होती है जिसका नाम सची प्रीति है। जो ऐसी प्रीतिके बन्धनसे बंधे हुए हैं वे कोटिह यतन करनेसे पृथक नहीं होते, सची प्रीति इसे कहते हैं जैसा चन्द्र श्रीर चकोरसें, दीपशिखा श्रीर पतंगमें, नीर और चीरमें, चातक और मेघके बीच देखनेमें आती है। यह वह स्राक्षण-शक्ति है जो न्यूटन महाशयके प्रकट किए बिना ही आप प्रगट हुई है। यह इसी आकर्षण-शक्तिका प्रभाव है कि कमल और कुसुदिनी दिनमणि श्रीर रजंनीकान्तसे इतनी दूर भी रहकर उनके हृदयमें प्रमुक्तित हो सरोवरको नित्य नित्य सुशोभित करते हैं। प्रीतिरज्जुक्तत बंधन वह अपूर्व बन्धन है कि भ्वमर काष्ठ-भेदनमें बड़ा चतुर भी होकर संध्यासमय मुक्कुलित कामलके भीतर प्रेमरज्जुलत बन्धनसे जब बंध जाता है तब उसकी

कोई कला नहीं लहती कि वह फूल को छेदकर बाहर निकल श्राय।

श्लो॰—"बन्धनानि क्लिल सन्ति बङ्गनि प्रेमरज्जुक्ततबन्धनमन्यत्। दारुभेदनिपुणोऽपि षडंच्रिनिष्क्रियो भवति पद्मजबद्धः॥"

यह वह इन्द्रजाल जानती है जिसकी बलसे यह अनेक रूप धारण कर लेती है। कभी भित्तके नामसे श्रत्यन्त विनम्बा मूर्ति धारणकर गुराजनींके पदारविन्द में प्रणत होती है, कभी वात्सख्य-रस पूर्ण हो अङ्गलालित शिश्रजनींके कोमलाङ्गके स्पर्शसुखका अनुभव करती है, कभी परकीय दु:ख वा यन्त्रणा देख निरन्तर अश्रुपूर्ण हो नितान्त खिन - हो जाती है। निस्मन्देह यह हृदयवृत्ति है जो वर्षाकालीन वारिधारा समान सम्पूर्ण विखको सन्तुष्ट करनेकी सामर्थ रखती है। परलोक-साधनका यह वह एक उत्तम उपाय है कि जो खर्गप्राप्ति अनेक योगादि द्वारा भी अति दुष्कर है वह इससे सहज ही में हो सकती है। जिनका चित्त प्रेमरससे आई न होकर कपट श्रीर क्विटिलतासे पूर्ण हो पाषाण सदृश कठोर हो रहा है उनके समस्त योगादि धर्माकार्य्य कुन्झर-स्नान सद्दश्र व्यर्थ है। यदि मनोव्यत्ति मलिन हुई तो बाहरी खच्छता श्राचार विचार दान धुर्खिस क्या फलिसिडि है ? "मन मलीन तन सुन्दर कैसे। विषरस भरा वानक-घट जैसे॥" यह वह मोहनमन्त्र है कि जिसके साधनसे जगत वशीभूत हो सकता है। जिन्होंने प्रेमरस प्याला पिया है उन्हें असत-पानकी क्या आवश्यकता है, जो खकीय हृदयके अन्तरतम प्रदेशमें प्रीतिके इस प्रकारके भावको निरन्तर परिपोषण करते है

उन्हें मनुष्य जातिके परम प्रिय बन्धु कच्चना उचित है। यह उन्हींका सुस्रोक है—

"श्रयं निजः परो विति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानाञ्च वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

हे भारतीय प्रजागण, तुम कब सम्पूर्ण कपट वच्चकहत्ति परस्परकी र्द्रणीं द्रोह स्वार्धतत्परता श्रीर निष्ठ्रता श्रादि खल प्रक्रतिका त्यागकर परम पवित्र बन्धुप्रेम ऐका श्रीर सुमितिसे पूर्ण हो सर्वसाधारणके सुख वा दु:खमें सुखी वा दु:खी होनर इस पूर्वीत सुस्रोनने अधिकारी होंगे ? तनिक सोचो तो सही तुम्हारे पूर्वपुरुष सदा इस प्रेमका योषण करते रहे, देखो पतिप्राणा रामच्चदय-सरोज-कुमुदिनी जनक-नन्दिनी दुसी प्रेम-राग-रिच्चता हो पिशाच-राचस-समाकीर्ण निविड काननमें पर्णकुटी ही को राजभवनका सुख मान अपने प्राणिप्यकी सत्त्वगामिनी हुई। यह प्रेम ही है जिसने गोपिकाश्रोंको कष्णानन-पङ्गज-भ्रमिरिका कर दिया, वह प्रेम ही का परिपाक है जिसने पुत्रशोकविधुर दशर्थ महाराजको खर्गवास दिया, द्रत्यादि अनेक उदाहरण प्रेम-पोषणके हैं; यह प्रत्यन्त है कि जबसे हम लोगोंने प्रेमका श्रङ्कर श्रपने लोगोंमेंसे उखाड़ कर फेंक दिया तभीसे निख चीण होते जाते हैं; महाभारतका घोर संग्राम जो भारतवर्षके सर्वनाशका प्रथमावतार था, इसी प्रेमके श्रभावसे हुआ। निस्रन्देह जिस देश वा जातिके लोग इस पवित्र प्रेमकी पूजा न करेंगे, वे ऐसे ही कीड़ीके तीन तीन होंगे।

अंधेर-नगरी

[भारतेन्दु इरियन्द्र (स्वत् १८०७-१८४१ वि०)—ये वर्षमान हिन्दी गयके प्रवर्त्तक माने गये हैं। इन्होंने गयको भाषाको परिमार्जित करके उसे सुन्दर खच्छ इप दिया। किवता-रचनामें प्राचीन श्रीर नवीनकी संधि रखी जिससे हिन्दी-किवताका इनसे एक नया युग श्रारम हुआ। इनके हारा हिन्दी-साहित्य एक नये मार्ग में श्रा गया श्रीर इनके भाषा-सस्कारकी महत्ताको सभीने सुक्तकगढ़से खीकार किया।]

श्रंधेर-नगरी चीपष्ट राजा। टके सेर भाजी टके सेर खाजा॥

पच्ला दृश्य

[वाह्य-प्रात]

(महंतजी दो चेलोंके साथ गाते हुए आते हैं)
सव—राम भजो राम भजो राम भजो भाई।
रामके भजेसे गनिका तर गई,
रामके भजेसे गीध गति पाई।
रामके नामसे काम बनै सब,
रामके भजन बिन सबहिं नसाई॥

महंत—बचा नारायणदास, यह नगर तो दूरसे बड़ा संदर दिखलाई पड़ता है। देख, कुछ भिच्छा-उच्छा मिले तो ठाकुरजीको भोग लगे। श्रीर क्या!

ना॰ दा॰—गुक्जी महाराज, नगर तो नारायणके श्रासरेसे बहुत ही सुंदर है, जो है सो, पर भिचा सुंदर मिले तो बड़ा श्रानंद हो।

महंत—बचा गोवर्धनदास, तू पिच्छिमकी श्रोरसे जा श्रीर नारायणदास पूरवकी श्रोर जायगा। देख, जो कुछ सीधा-सामग्री मिले तो श्रीशालगामजीका बालभोग सिंह हो।

गो॰ दा॰—गुरुजी, मैं बहुत सी भिच्छा लाता हं। यहां लोग तो बड़े मालवर दिखलाई पड़ते हैं। श्राप कुछ चिंता मत कीजिये।

महंत-बचा, बहुत लोभ मत करना। देखना, हां-लोभ पापको मूंल है, लोभ मिटावत मान। लोभ कभी नहिं कीजिये, यामैं नरक निदान॥ [गात हुए सब जाते हैं]

[पटाचेप]

दूसरा दृश्य

[बाजार]

घासीराम-चने जोर गरम-

चने बनावें घासीराम।
जिनकी भोलीमें टूकान॥
चना चुरसुर चुरसुर बोलै।
बाबू खानेक्रो मुंह खोलै॥

चने जोर गरम! टके सेर!

नरंगीवाली—नरंगी ले नरंगी—कंवला नीव, मीठा नीवू, रंगतरा, संगतरा, नरंगी! टके सेर नरंगी!

हलवाई—जलेबियां गरमा गरम! ले सेव, इमरती, लड्डू, कचीड़ी, दालमोट, पकीड़ी, घेवर, गुपचुप! जो खाय सो भी पछताय। रेवड़ी कड़ाका, पापड़ पड़ाका। सब सामान ताजा। खाजा—ले खाजा। टके सेर खाजा।

नंजिहन—ले धनिया, मेथी, सोग्रा, पालक, चौराई, सरसींका साग। ले फालसा, खिरनी, श्राम, श्रमरूद, निबुग्रा, मटर, होरहा। (जैसे काजी वैसे पाजी। रैयत राजी, टके सेर भाजी। ले हिंदुस्तानका मेवा फूट श्रीर बैर।)

सुग़ल-बादाम, पिस्ते, अखरोट, बिचीदाना, सुनक्का, किश्रमिश्र, अंगूरकी पिटारी। (हिंदुस्तानका आदमी लक-लक, हमारे वहांका आदमी बंबक-बंबक।) लो सब मेवा टके सेर।

चूरनवाला-

चूरन श्रमलवेदका भारी।
जिसकी खाते क्षण मुरारी॥
मेरा पाचक है पचलोना।
जिसकी खाते श्याम सलोना॥
चूरन बना मसालेदार।
जिसमें खट्टेकी बहार॥
चूरन नाटकवाले खाते।
इसकी नकल पचा कर लाते॥

चूरन सभी महांजन खाते। ' जिससे जमा इजमकर जाते॥ चूरन खाते लाला लोग। जिनको अकिल अजीरन रोग॥ चूरन खावें एडिटर जात। जिनकेंद्विट पचै नहिं बात॥

से चूरनका ढेर, बेचा टके सेर।

जातवाला (ब्राह्मण)—जात ले जात, टके सेर जात। एक टका दो, इस अभी अपनी जात, बेचते हैं। (टकेंके वास्ते ब्राह्मणसे धोबी हो जायं और धोबीको ब्राह्मण कर दें।) वेद, धर्मा, कुल-मरजादा, सचाई-बड़ाई, सब टके सेर। लुटाय दिया अनमोल माल। लेटके सेर।

(बाबाजीका चेला गोबर्धनदास त्राता है और सब वेचनेवालोंकी त्रावाज़ सुन सुनकर खानेके त्रानंदमें बड़ा प्रसन्न होता है।)

गो॰ दा॰—क्यों भाई बिन्ये, श्राटा कितने सेर ? बिनया—टके सेर । गो॰ दा॰—श्री चावल ? बिनया—टके सेर । गो॰ दा॰—श्री चीनी ? बिनया—टके सेर । गो॰ दा॰—श्री घी ? बिनया—टके सेर । गो॰ दा॰—सब टर्ने सेर! सचसुच ? बनिया—हां महाराज, क्या भूठ बोलूंगा ?

गो॰ दा॰—(कुंजिङ्निके पास जाकर) क्यों माई, भाजी क्या भाव ?

कुंजिङ्नि—बाबाजी, टके सेर। नितुमा, सुरर्द, धनिया, मिरचा, भाग सब टके सेर।

गो॰ दा॰ — सब भाजी टके सेर! वाइ-वाइ! बड़ा आनंद है। यहां सभी चीज़ टके सेर। (इलवाईके पास जाकर) क्यों भाई इलवाई, मिठाई कितने सेर?

हलवाई—बाबाजी, लड़्त्रा, हलुत्रा, जलेबी, गुलाबजासुन, खाजा, सव टके सेर।

गो॰ दा॰—वाह। वाह। बड़ा श्रानंद है। क्यों बचा, सुभसे मसखरी तो नहीं करता ? सचसुच सब टर्क सेर ?

चलवाई—हां बाबाजी, सचसुच सब टके सेर। इस नगरीकी चाल ही यही है। यहां सब चीज़ टके सेर बिकती है।

गो॰ दा॰—क्यों बचा, इस नगरीका नाम क्या है ?

हलवाई--ग्रंधेर-नगरी।

गो॰ दा॰--ग्रीर राजाका क्या नाम है ?

च्चवार्द्र-चौपष्ट राजा।

गो॰ दा॰—वाइ। वाइ॥ श्रंधेर-नगरी चीपष्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

[यद्दी गाता है श्रीर श्रानंदसे बगल बजाता है।] हलवाई—तो बाबाजी, कुछ लेना देना हो तो लो दो। गो॰ दा॰—बच्चा, भिच्चा मांगकर सात पैसे लाया हं, साढ़े तीन सेर मिठाई दे दे, गुरु-चेले सब आनंदपूर्वक इतनेमें छक जायंगे।

[इलवाई मिठाई तौलता है—बाबाजी मिठाई लेकर खाते हुए और अंधेर-नगरी गाते हुए जाते हैं ।]

[पटाचेप]

तीसरा दृख

[नगल]

(महंतजी और नारायणदास एक ग्रोरसे 'राम भजो' इत्यादि गाते हुए ग्राते हैं ग्रीर दूसरी श्रोरसे गोवर्धनदास ग्रंधेर-नगरी गाता हुग्रा ग्राता है।)

महंत—वचा गोवर्धनदास, कह, क्या भिच्छा लाया? गठरी तो भारी मालूम पड़ती है।

गो॰ दा॰—गुरुजी महाराज, सात पैसे भीखमें मिले थे, उसीसे साढ़े तीन सेर मिठाई मोल ली है।

महंत-वचा, नारायण्टासने सुभसे कहा था कि यहां सब चीज़ टके सेर मिलती है, ती मैंने इसकी बातका विखास नहीं किया। वचा, यह कीनसी नगरी है और इसका कीनसा राजा है, जहां टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा विकता है?

गो॰ दा॰—ग्रंधर-नगरी चौपष्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

महंत—तो वचा, ऐसी नगरीमें रहना उचित नहीं है, जहां टकें सेर भाजी और टके ही सेर खाजा हो—

> रोहा- सित सेत सब एकसे, जहां कपूर कपास । ऐसे देस कुदेसमें, कबहं न कीजे बास ॥

सो वचा चलो यहांसे। ऐसी श्रंधेर-नगरीमें इजार मन मिठाई सुफ़तकी मिले तो किस काम की ? यहां एक छन नहीं रहना।

गो॰ दा॰—गुरुजी, ऐसा तो संसार भरमें कोई देश ही नहीं है। दो पैसा पास रहने ही से मजेमें पेट भरता है। मैं तो इस नगरको छोड़कर नहीं जाऊंगा।

महंत-देख बचा, पीक्के पक्रतायगा।

गो॰ दा॰—श्रापकी क्रपासे कोई दुःख न होगा, मैं तो यही कहता है कि श्राप भी यहां रहिये।

महंत—में तो इस नगरमें श्रव एक चण भर नहीं रहंगा। देख, मेरी वात मान, नहीं पीछे पछतायगा। में तो जाता हं, पर इतना कहे जाता हं कि कभी संकट पड़े तो हमारा स्मरण करना।

गो॰ दा॰—प्रणाम गुरुजी, मैं श्रापका नित्य ही स्नरण करूंगा। मैं तो फिर भी कहता हं कि श्राप भी यहीं रहिये।

[महंतजी नारायणदासके साथ जाते हैं, गोवर्धनदास बैठ कर मिठाई खाता है।]

[पटाचेप]

चौथा दृश्य

[राजसभा]

(राजा, मंत्री श्रीर नीकर लोग यथास्थान स्थित हैं।)

एक सेवक-(चिन्नाकर) पान खाइये, महाराज।

राजा—(पिनकसे चौंकके घबराकर उठता है) क्या कहा? सुपनखा आई ए महाराज। (भागता है)

मंत्री—(राजाका हाथ पकड़कर) नहीं नहीं, यह कहता है कि पान खाइए महाराज।

राजा—दुष्ट, लुचापाजी ! नाहक हमको डरा दिया। मंत्री, इसको सी कोड़े लगें।

मंत्री—महाराज, दूसका क्या दोष है ? न तमोली पान लगांकर देता, न यह पुकारता।

राजा-अच्छा, तमोलीको दो सी कोड़े लगें।

मंत्री—पर महाराज, श्राप पान खाइए सुनकर थोड़े ही डरे हैं, श्राप तो सुपनखाके नामसे डरे हैं, सुपनखाकी सजा हो।

राजा—(घवराकर) फिर वही नाम, मंत्री तुम बड़े खराब आदमी हो। नीकर, नीकर, शराब—

दूसरा सेवक—(एक सुराहीमेंसे एक गिलासमें शराब उभलकर देता है) लीजिए महाराज, पीजिए महाराज।

राजा-(मुंह बना-बनाकर पीता है) श्रीर दे।

(निपथ्यमें दुहाई है दुहाईका शब्द होता है।)

राजा-कौन चिल्लाता है ? पकड़ लात्री।

(दो नौकर एक फ़र्यादीको पकड़ लाते हैं।)

फ़॰--दोहाई, महाराज, दोहाई है। हमारा न्याव होय।

राजा—चुप हो। तुन्हारा न्याव यहां ऐसा होगां कि जैसा जमके यहां भी न होगा—बोलो क्या हुआ।

फ़॰—महाराज, कब्बू बनियेकी दीवार गिर पड़ी सो मेरी बकरी उसके नीचे दब गई। दोहाई है, महाराज, न्याव हो।

राजा—(नौकरसे) कलू बनियेकी दीवारको श्रभी पकड लाश्रो। मंत्री—महाराज, दीवार नहीं लाई जा सकती।

राजा—श्रच्छा, उसका भाई, लड़का, दोस्त, जो हो उसको पकड लाश्रो।

मंत्री—महाराज, दीवार ई'ट-चूनेकी होती है, उसके भाई-बेटा नहीं होता।

राजा—श्रच्छा, कलू बनियेको पकड लाश्रो। (नौकर लोग दीड़कर बाहरसे बनियेको पकड लाते हैं।)

राजा—क्यों वे बनिये, इसकी लरकी, नहीं बरकी क्यों दबक्र मर गई ?

मंत्री-वरकी नहीं महाराज, वकरी।

राजा-हां! हां! बकरी क्यों सर गई बोल, नहीं अभी फांसी देता हं।

कक्कू—महाराज, मेरा कुछ दोष नहीं। कारीगरने ऐसी दीवार बनायी कि गिर पडी।

राजा—श्रच्छा, इस क्रमूको छोड दो, कारीगरको पकड़ लाग्रो। (क्रमू जाता है, लोग कारीगरको पकडकर लाते हैं।)

राजा—क्यों वे कारीगर, इसकी बकरी किस तरह मर गई ? कारीगर—महाराज, मेरा कुछ कुसूर नहीं, चूनेवाले ने चूना ऐसा बोदा बनाया कि दीवार गिर पड़ी। राजा—श्रद्धा, इस कारीगरको बुलाश्रो, नहीं नहीं, निकालो ; उस चूनेवालेको बुलाश्रो।

(कारीगर निकाला जाता है, चूनेवाला पकड़कर लाया जाता है।)

राजा-क्यों वे खैर-सुपारी-चूनेवाले, दूसकी कुबरी कैसे मर गई ?

चूनेवाला—महाराज, मेरा क्षक दोष नहीं; भिग्तीने चूनेमें पानी ज्यादा डाल दिया, इसीसे चूना कमज़ोर हो गया होगा।

राजा—श्रच्छा, चुन्नीलालको निकालो, भिश्तीको पकडो। (चूनेवाला निकाला जाता है, भिश्ती लाया जाता है।)

राजा—क्यों वे भिक्षी, गंगा-जमुनाको किक्षी। इतना पानी क्यों डाल दिया कि इसकी बकरी गिर पड़ी श्रीर दीवार दब गई?

भिक्री—महाराज, गुलामका कोई क्सूर नहीं, कसाईने मसक इतनी बड़ी बना दी थी कि उसमें पानी ज्यादा आ गया।

राजा—ग्रन्का, कसाईको लाग्रो, भिश्तीको निकालो।

(लोग भिश्तीको निकालते हैं श्रीर कसाईको लाते हैं।)

राजा—क्यों वे कसाई, मसक ऐसी क्यों बनाई कि दीवार गिराई, श्रीर बकरी दबाई ?

कसाई—महाराज, गड़ेरियेने टके पर ऐसी बड़ी भेड़ मेरे हाथ वैची कि उसकी मसक बड़ी बन गईं।

राजा—श्रच्छा, कसाईको निकालो, गङ्गियेको लाश्रो।
(कसाई निकाला जाता है श्रीर गङ्गिया लाया जाता है।)
राजा—क्यों वे जख पौडिके गङ्गिये, ऐसी बड़ी भेड़ क्यों वेची
कि बकरी मर गई?

गंड़रिया—महाराज, उधरसे कोतवाल साहबकी सवारी श्राई, सो उसके देखनेमें मैंने छोटी बड़ी भेड़का ख्याल नहीं किया, मेरा कुछ क़स्र नहीं।

राजा—श्रच्छाः इसको निकालो, कोतवालको श्रभी सरबसुहर पकड लाश्रो।

(गडरिया निकासा जाता है, कोतवास पकड़ा श्राता है।)

राजा— क्यों वे कोतवाल, तेंने सवारी ऐसी धूमसे क्यों निकाली कि गड़ेरियेने घबड़ाकर बड़ी भेड़ वेची, जिससे बकरी गिरकर कम्नू बनिया दव गया ?

कोतवाल-महाराज, महाराज, मेंने तो कोई क्सूर नहीं किया, मैं तो शहरके इंतज़ामके वास्ते जाता था।

मंबी—(श्राप ही श्राप) यह तो बड़ा ग़ज़ब हुशा, ऐसा न हो कि यह बेवकूफ इस बातपर सारे नगरको फूंक दे या फांसी दे।

(कोतवालसे) यह नहीं, तुमने ऐसी धूमसे सवारी क्यों निकाली?

राजा—हां हां, यह नहीं, तुमने ऐसी धूमसे सवारी क्यों निकासी कि उसकी बकरी दबी ?

कोतवाल-महाराज महाराज-

राजा—कुछ नहीं, महाराज महाराज, ले जात्रो, कोतवालको त्रभी फांसी दो। दरबार वरखास्त।

(लोग एक तरफरी कोतवालको पकड़कर ले जाते हैं, दूसरी श्रोरसे मंत्रीको पकड़कर राजा जाते हैं।)

[पटाचेप]

पांचवां दृश्य (ऋरखः

(गोबर्धनदास गाता हुआ आता है।)
अंधर-नगरी अनबूम राजा।
टक्ते सेर भाजी टक्ते सेर खाजा॥
सांचे मारे मारे डोलें।
छली दुष्ट सिर चिंद-चिंद बोलें॥
प्रगट सभ्य अंतर छलधारी।
सोई राजसभा बल भारी॥
सांच कहें ते पनही खावें।
भूठे बहु बिंध पदवी पावें॥
छलियनके एकाके आगे।
लाख कही एकहु नहिं लागे॥
जंच नीच सब एकहिं सारा।
मानहुं ब्रह्म-ज्ञान बिस्तारा॥
(बैठकर मिठाई खाता है।)

गुरुजीने इसको नाइक यहां रहनेको मना किया था। माना कि देस बहुत बुरा है, पर अपना क्या ? अपने किसी राज-काजमें थोड़े ही हैं कि कुछ डर हो, रोज मिठाई चामना, मजेमें आनंदसे रामभजन करना।

(मिठाई खाता है)

(चार प्यादे चार श्रोरसे श्राकर उसको पकड़ लेते हैं।) १ प्यादा—चल वे चल, बहुत मिठाई खाकर मुटाया है। श्राज पूरी हो गई। २ प्या॰-बाबाजी चलिए, नमोनारायण कीजिए।

गो॰ दा॰—(घबड़ाकर) हैं! यह आफ़त कहांसे आई! अरे भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो मुभको पकड़ते हो ?

१ प्या॰—श्रापने बिगाड़ा है या बनाया है, इससे क्या मतलब, अब चलिए फांसी चढिए।

गो॰ दा॰—फांसी। अरे बाप रे बाप फाँसी। मैंने किसके प्राण मारे कि सुभको फांसी।

२ प्या - श्राप बड़े मोटे हैं, इस वास्ते फांसी होती है।

गो॰ दा॰—मोटे होनेसे फांसी ? यह कहांका न्याव है। अरे, हंसी फकीरोंसे नहीं करनी होती।

१ प्या॰—जब स्ली चढ़ लीजिएगा तब मालूम होगा कि हंसी है कि सच। सीधी राइसे चलते हो कि घसीटकर ले चलें ?

गो॰ दा॰--अरे बाबा, क्यों वेक्सूरका प्राण मारते हो ? भगवान्के यहां क्या जबाब दोगे ?

१ प्या॰—भगवान्को जबाब राजा देगा। इसको क्या मतलब। इस तो इकी बंदे है।

गो॰ दा॰—तब भी बाबा बात क्या है कि हम फ़कीर आदमीको नाहक फांसी देते हो ?

१ प्या॰—बात यह है कि कल कोतवालको फांसीका हुनुम हुआ था। जब फांसी देनेको छसको ले गए, तो फांसीका फंदा बड़ा हुआ, क्योंकि कोतवाल साहब दुबले हैं। हम लोगोंने महाराजसे अर्ज किया। इसपर हुनुम हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़कर फांसी दे दो, क्योंकि बकरी मारनेके अपराधमें किसी-न-किसीको सजा होनी जरूरी है, नहीं तो न्याव न होगा। दूसी वास्ते तुमको से जाते हैं कि कोतवासके बदसे तुमको फांसी दें।

गो॰ दा॰—दुहाई परमेखरकी! अरे मैं नाहक मारा जाता हं! अरे यहां बड़ा ही अंधेर है, अरे गुरुजी महाराजका कहा मैंने न माना उसका फल सुभको भोगना पड़ा। गुरुजी कहां हो! आओ, मेरे प्राण बचाओ, अरे मैं बे-अपराध मारा जाता हं। गुरुजी! गुरुजी!

(गोवर्धनदास चिस्नाता है, प्यादे उसको पकड़कर से जाते हैं।)

[पटाचेप]

क्ठा दृश्य

(प्रसंशान) -

(गोवर्धनदासको पकड़े हुए चार सिपाहियोंका प्रवेश)

गो॰ दा॰—हाय बाप रे! सुभी बेक्सूर ही फांसी देते हैं। अरे भाइयो, कुछ तो धरम बिचारो। अरे सुभी छोड़ दो। हाय! हाय!

(रोता है श्रीर छुड़ानेका प्रयत करता है।)

१ सिपाही—श्रबे, चुप रह—राजाका इक्कम भला कहीं टल सकता है ? यह तेरा श्राख़री दम है, रामका नाम ले—बेफ़ायदा क्यों शोर करता है ? चुप रह—

गो॰ दा॰—हाय, मैंने गुरुजीका कहना न माना, उसीका यह मल है। अरे! इस नगरमें ऐसा कोई धर्मात्मा नहीं है, जो इस प्रकीरको बचावे। गुरुजी कहां हो? बचात्रो—गुरुजी— गुरुजी—

(रोता है, सिपाही लोग उसे घसीटते हुए ले चलते हैं। गुरुजी श्रीर नारायणदास श्राते हैं।)

गुर-अरे बचा गोवर्धनदास । तेरी यह क्या दशा है ?

(गुरुजीको द्वाय जोडकर)

गो॰ टा॰-गुरुजी, टीवारके नीचे बकरी दब गई, सो इसके लिये मुर्भे फांसी देते है, गुरुजी बचाओ।

गुरु—श्रर बचा। मैंने तो पहिले ही कहा था कि ऐसे नगरमें रहना ठीक नहीं, तैने मेरा कहना नहीं सुना।

गो॰ दा॰—मैंने आपका कहा नहीं माना उसीका यह फल मिला। आपके सिवा अब ऐसा कोई नहीं है जो रचा करे। मैं आप ही का हं, आपके सिवा और कोई नहीं।

(पैर पकडकर रोता है।)

महन्त-कोई चिन्ता नहीं, नारायण सब समर्थ हैं।

(भीं चढाकर सिपाहियोंसे)

सुनो, सुक्षे शिष्यको श्रंतिम उपदेश देने दो। तुम लोग तिनक किनारे हो जाश्रो। देखो, मेरा कहना न मानोगे तो तुम्हारा भला न होगा।

सिपाही—नहीं महाराज, हम लोग हट जाते हैं। आप वैश्व डपदेश कीजिए।

(सिपाही हट जाते हैं। गुरुजी चेलेके कानमें कुछ समभाते-हैं।) गो॰ दा॰—(प्रगट) तब तो गुरुजी हम अभी फांसी चढ़ेंगे। महंत-नहीं बचा, सुमको चढ़ने दे। गो॰ दा॰-नहीं गुरुजी, हम फांसी चढ़ेंगे।

महंत-नहीं बचा हम। दतना सम्भाया नहीं मानता, हम बढ़े भए, हमको जाने दे।

गो॰ दा॰—खर्ग जानेमें बढ़ा जवान क्या ? श्राप तो सिंह हैं, श्रापको गति-श्रगतिसे क्या ? मैं फांसी चढ़ूंगा।

(इसी प्रकार दोनों चुळात करते हैं—सिपाची लोग परस्पर चिकत होते हैं।)

१ सिपाची—भाई, यह क्या माजरा है, कुछ समभ नहीं पड़ता। २ सिपाची—हम भी नहीं समभ सकते कि यह कैसा गड़बड़ है।

(राजा, मंत्री, कोतवाल आते हैं।)

राजा-यह क्या गोलमाल है?

सिपाही—महाराज, चेला कहता है मैं फांसी पड़ूंगा, गुरु कहता है मैं पड़ूंगा, कुछ मालूम नहीं पड़ता कि क्या बात है।

राजा—(गुरुसे) बाबाजी, बोलो। काहिको श्राप फांसी चढ़ते हैं?

महंत-राजा, इस समय ऐसी साइत है कि जो मरेगा सीधा बैकुंठ जायगा।

मंत्री-तब तो हमीं फांसी चढ़ेंगे।

गो॰ दा॰-इम-इम। इमको इकुम है।

कोतवाल-इम लटकेंगे, हमारे सबब तो दीवार गिरी।

राजा—चुप रहो सब लोग। राजाके जीते जी ग्रीर कीन बैकंठ जा सकता है इमको फांसी चढ़ाग्रो, जल्दी, जल्दी। महंत—

जहां न धर्मा न वृद्धि निहं, नीति न सुजन समाजं।
ते ऐसिहं श्रापुहिं नसे, जैसे चौपट राज॥

(राजाको लोग टिकठीपर खड़ा करते हैं)

[पटाचिप]

चमा

[साहित्याचार्य पिछत अस्विकादत्त व्यास (संवत् १८१५-१८५६ वि०)—ये काशीम रहते थे। व्यासनो संस्कृत साहित्यके वहुत वहे विद्वान् और सनातन धर्मके कहर पचपाती थे। हिन्दीके भी वहे अच्छे लेखक और वक्ता थे। हिन्दीम इनके लेख वहे घरेलू टंगके होते थे। इन्होने 'पीयूष-प्रवाह' नामक मासिक पच निकाला था जिसका सन्पादन इन्होंने वही खूबीके साथ किया। 'चमा' प्रवन्ध पहले पटल उसी पत्रमें निकला था। इनके लिखे संस्कृत और हिन्दीके यत्योकी संख्या लगभग ८० है। गद्यकाव्य-भीमासा नामकी प्रनकी प्रकृत वहे सहस्तकी है। कविता भी इनकी वही मधुर और भावपूर्ण होतो थी। काशी-वर्णन आदि इनकी कविताएं वही रीचक है।]

चमा कुछ साधारण गुण नहीं है। जिस पुरुषमें चमा नहीं वह अति चुद्र समभा जाता है। जो ऐसे होते हैं कि किसीसे कुछ अपकार की शङ्का हुई कि उसका अपकार करनेको तैयार किसीके मंहसे भ्रमसे भी कुछ कर्रा शब्द निकला कि आप गालियोंकी बर्षा करने लगे। किसीने अल्प अपराध भी किया तो उसपर फट टूट पड़े वे अति तुच्छ समभे जाते हैं। जिनको चमा नहीं उनके लड़के वाले वडे दुईल होते हैं क्योंकि वे वात बातमें धूसे और इरके जाते

हैं ग्रीर बात बातमें मार खाते हैं। उनसे जी खोलकर कोई बात नहीं करता, क्योंकि यह ग्राग्रङ्गा सबको रहती है कि बातोंमें कोई ग्रनुचित न हो जाय।

जिसको चमा नहीं है उससे कितने ही काम चटपटमें ऐसे अनुचित बन जाते हैं कि पीछे जन्म भर पछतावा रह जाता है। चिमा-रहित पुरुष राजसभाओं में तो कभी टिक ही नहीं सकते। जैसे किसी कटोरेमें जल हो तो उसमें जहां कुछ और पदार्थ डाला कि जल उबला यह स्वभाव अचम पुरुषोंका है। समुद्रमें पहाड़ या पड़े तो भी उसका बढ़ना घटना फैलना कुछ नहीं बिदित होता यह स्वभाव चमावान्-पुरुषोंका है जैसे गजराजने पीछे कुत्ता भूकता हुआ चले और गजराज उसपर ध्यान न दे तो उसका कुछ नहीं बिगड़ता वैसे हो चमाशील पुरुष यदि तुच्छोंकी बक्तवकपर ध्यान न दें तो उनकी क्या हानि है? यदि कोई अपनेको गाली दे तो भी यों समक्ष लेना कि—

"जाके ढिगं बहु गारी है है सोई गारी दैहै। गारी वारो आपु कहै है हमरोका घटि जैहै"॥

कोई समभते हैं कि जो हमको गाली देता है उसे यदि हम गाली न दें तब तो हमारी बड़ी अप्रतिष्ठा होगी पर यह उल्टी ही बात है। तुच्छोंकी गाली पर गाली ही देनेसे टंटा बढ़ता है और चुप रहनेसे कोई जानता भी नहीं कि किसको किसने गाली दी।

एक समय विशिष्ठ श्रीर विश्वामित्रकी बड़ा भगड़ा चला। भगड़ा तो इस बातका या कि विश्वामित चित्रय ये पर बहुत तप करनेके कारण कहते ये कि हमें सब कोई ब्राह्मण कहा कीजिये, पर यह बात उस समयके ब्राह्मणोंको अच्छी न लगी। विशिष्ठजीने कहा कि आप चित्रिय थे पर तपस्ती हैं इसलिये राजिष कहला सकते हैं परन्तु ब्रह्मिष नहीं।

दस वातपर विखामित्रने विश्वष्ठासे श्रुता बांधी। विखामित्र बार बार अधिक अधिक तप करके आते थे और विश्वष्ठासे भगड़ा करते थे, पर विश्वष्ठा उनपर समा ही रखते थे। पुराणोंमें ऐसा लिखा है कि एक बार विखामित्र बहुत तपकर आकर विश्वको लिखार बोले कि हमें ब्राह्मण कहो, नहीं तो युद्ध करो। विश्वष्ठा एक दण्ड लेकर कुटीके बाहर खड़े हो गये। विश्वामित उनपर बहुतसे श्रु अब चलाने लगे परन्तु विश्वष्ठाने अपने तपोबलसे सबको उसी दण्डपर रोका। जब विश्वामित्र कोटि कला कर हार तब विश्वष्ठाने कहा कि भाई, और कोई श्रु अब बाको हो तो चला लो फिर हम भी आरम्भ करेंगे। तब विश्वामित्रने हाथ जोड़े और विश्वष्ठाने समा की।

कालान्तरमें विशिष्ठजी एक समय अपनी कुटीमें बैठे आंख बन्द किये ध्यान कर रहे थे और अंधेरी रात थी। चारों और मारे अन्धकारके ऐसा जान पड़ता था कि काजलकी आंधी चल रही है अथवा स्थाहीकी वर्षा हो रही है। काले मेघमण्डलसे तारोंका भी प्रकाश बन्द होगया था। इस समय विश्वामित्रके चित्तमें यह बात आई कि जितने ब्राह्मण हैं वे विशिष्ठ ही पर ठलते हैं और कहते हैं कि विशिष्ठ यदि ब्राह्मण कहैं तो हम लोग भी ब्राह्मण कहैं, और विशिष्ठ ऐसा दुष्ट है कि चाहे कुक्क हो हमें ब्राह्मण न कहैगा। तो इस अन्धेरेमें विशिष्ठका सिर काट डालना चाहिये।

यह बिचार चोरकी भांति तलवार ले विशष्टकी कुटीमें घुसे।

दैवात् विशिष्ठको समाधि खुलो, विशिष्ठने पूछा "कीन है?" तो विश्वामित्रने कहा कि तुम सुभी ब्राह्मण नहीं कहते इसलिये में तुन्हारा सिर काटने आया हं। विशिष्ठने कहा कि आप हो सोच लीजिये क्या तो पाप करने आप आये हैं? ऐसे ही ब्राह्मणोंके कर्म होते हैं? क्या ऐसे ही स्वभावके भरोसे आप ब्राह्मण बनना चाहते हैं? यह सुनते ही विश्वामित्र लिजित हो गये, और तलवार दूर फेंक प्रणाम कर बैठ गये, और अपने अपराध ह्मा कराने लगे।

विश्विज्ञीने कहा "हमें कुछ बदला नहीं लेना है कि ग्राप चमा मांगें पर देखिये जिस समय ग्राप ग्रहंकारसे ऊंचे बननेका ढंका दे युद्धका डील बांधते ये तब सबकी दृष्टिमें ग्राप छोटे जंचते ये ग्रीर ग्राप ग्रब हाथ जोड़े ग्रपनेको तुच्छ समभे वेठे हैं तो हमारी दृष्टिमें ऊंचे जान पड़ते हैं। इस समय ग्रापके हृदयमें ग्रहंकार नहीं, क्रोध नहीं, छल नहीं, ईर्ष्या नहीं, मद नहीं, मत्सर नहीं— बस ऐसा हृदय रिखये तो ग्राप सबसे बड़े हैं।" विश्वामित्रजीको यह सुन बहुत बोध हुग्रा ग्रीर विश्वष्ठजीका इतना भारी चमागुण देख देख सबको ग्राग्वर्य हुग्रा।

इसलिये यही चित्तमें स्थिर करके रखना चाहिये कि-

॥ दोहा ॥

"इसा सकत गुनसो बड़ों, इसा पुन्यको सूल। इसा जास हिरदे रहे, तास देव अनुकूल॥ अपराधी निज दोषतें, दुख पावत बसु जाम। इसामील निज गुनन ते, सुखी रहत सब ठाम॥"

भीषा की शरशय्या

[पिडित महावीरप्रसाद हिवेदी (सवत् १८२१-१८८५ वि०)—ये हिन्दीके धुरधर विदान् थे।

सस्तत, फारसी, मराठी, गुजराती, बंगला, अगरेजी आदि भाषाओम भी इनका

अच्छा अधिकार था। हिन्दी गद्य लिखनेकी इनकी एक विभेष भैली है जो

उत्तर समभी जाती है। हिन्दी लिखकोमें ऐसा अच्छा गद्य लिखनेवाले वहत

कम है। इन्होंने वहतमें मौलिक ग्रन्थ लिखे और उपयोगी पुस्तकोका हिन्दीमें

अनुवाद भी किया। ये अच्छे किव भी थे। खडी वोलीकी किवताकी आजकल

जो उन्नति हुई है उसका श्रेय हिवेदीजीकी ही है। सच कहा जाय तो ये अपने

लीडेके एक ही लेखक थे। समालीचकके रूपमें भी इनका स्थान वहत ऊंचा

है। इन्होंने कई पुस्तकोपर खतन्त्र समालीचनाएं लिखी हैं।]

युद्धके मैदानमें सञ्चय सब बातें अपनी आंखों देखते थे और सायङ्काल युद्धका सच्चा सचा हाल धतराष्ट्रसे कहते थे। उस दिन सन्ध्या-समय जब वे युद्धके मैदानसे लौटे तब उदास और चिन्तामें डूवे बैठे हुए राजा धतराष्ट्रसे इस प्रकार युद्धका हाल कहा—

"महाराज! हम सन्त्रय हैं। श्रापको हमारा प्रणाम है।
कुरु-पितामह भीष श्राज युद्धमें मारे गये। योद्धाश्रोंमें जो सबसे
श्रेष्ठ घे, श्रीर कीरव-बीरोंको जिनका इतना भरोसा था, वही भीष
श्राज बाणोंके सेजपर सोये हैं। जिन्होंने काशीके महायुद्धमें सैकड़ीं
राजाश्रोंके साथ एक-रथ युद्ध करके सबको हरा दिया, खुद परश्रराम
भी जिन्हें नहीं जीत सके, वही भीष श्राज शिखण्डीके द्वारा परास्त
होकर ज़मीनपर पड़े हैं। शूरतामें जो इन्द्रके समान, खिरतामें
हिमालयके समान, सहन-शीलतामें पृथ्वीके समान, श्रीर गम्भीरतामें
ससुद्रके समान घे, बीरोंका संहार करनेवाले वही महावीर भीष

दस दिन तक अपनी सेनाकी रचा करके और अनेक अद्भुत अद्भुत काम करके आज स्थाकी तरह अस्त हो गये।"

धतराष्ट्रने कहा—"हे सक्तय। यह तुम कैसे कह रहे हो कि भीक्ष आज मारे गये! देवता भी जिन्हें नहीं जीत सकते थे ऐसे महादुर्धर्ष भीक्षको पाञ्चाल देशके शिखराड़ीने युद्धमें क्यों कर मारा? संसारमें जितने धनुष धरनेवाले हैं उन सबमें श्रेष्ठ भीक्षके मारे जानेकी ख़बर सुननेसे श्रिषक श्रीर क्या दुख हो सकता है? श्रोहो! क्या ही श्राश्चर्यकी बात है। जिसने दस दिन तक इन्द्रकी तरह अनल-वाण वर्षा करके एक श्रव बीरोंको मार गिराया वही श्राज खुद मारा जाकर, प्रचण्ड पवनके भकोरोंसे ट्रटकर गिरे हुए व्रचकी तरह युद्धके मैदानमें पड़ा है। महारिधयोंके कुलमें उत्यव हुए उस वीरपुरुषके हारनेका सारा व्रतान्त हमसे कहो; क्योंकि सव बातें श्रक्टी तरह सुने विना हम नहीं रह सकते।"

सन्तय बोले—"महाराज, इस युद्ध संबन्धमें जिस महात्माने वरदान से हम श्रांख से न देख पड़ नेवाली बातें भी देख संकति है, बहुत दूर होनेवाली बातें भी सुन सकते हैं, श्रीर दूसरों की मनकी भी बातें जान सकते हैं, उन्हों को नसस्कार करके हम विस्तारपूर्व युद्ध वर्णन करते हैं, सुनिए।"

इसके अनन्तर पहली रातको पार्डवोंका भीषके पास जाने, उनके उपदेशके अनुसार व्यूहकी रचना करने और युदारक होने आदिका यथार्थ वर्णन करके सञ्जय कहने लगे—

"जव शिखरडोको आग करके पार्डवोंकी सेनाने कीरवोंसे चिरे हुए भीषापर आक्रमण किया तब महा घनघोर युद्ध होने लगा। बज हाथमें लिये हुए इन्द्रका सामना जैसे दैत्योंके दलने किया था, ठीक उसी तरह महारथी भीषाका सामना पाग्डव लोगोंने किया। तव पितामहने महाघोर सूर्त्ति धारण की श्रीर इन्द्रके बच्चपर रगड़ कर तेज़ किये गये सैकड़ों-हज़ारों बाणों की वर्षा करके श्राकाश पाताल एक कर दिया।

"धीर धीर हमारी सेनाका नाश करते करते भीम और अर्जुन व्यूहके द्वारपर जा पहुंचे। शिखण्डीके रथको वीचमें डालकर वे उसकी रचा करते थे। इससे शिखण्डीका रथ क्रम क्रमसे आगे बढ़ता गया और कुछ देरमें भीषके रथके पास पहुंच गया। तब अर्जुनने कहा—'हे शिखण्डी। तुन्हारे लिये यही सबसे अच्छा सीका है। इस समय और किसी बातका सोच विचार न करके तुम तुरन्त ही भीषपर बार करो।'

"श्रर्जुनके कहनेके श्रनुसार शिखण्डीने भीषकी क्रातीपर वाण मारना श्रारक कर दिया। परन्तु पितामहने शिखण्डीकी तरफ तुच्च दृष्टिसे देखा—उन्होंने शिखण्डीकी श्रवज्ञामात्न की। शिखण्डीके वार पर वार करने पर भी उन्होंने एक बार भी उनपर बाण न चलाया, न श्रीर ही किसी श्रचसे उनपर चोट की। शिखण्डीकी मारकी कुक्च भी परवा न करके पहले ही की तरह वे श्रीर श्रीर योडाश्रों पर वाण वर्षा करते रहे।

"किन्तु शिखण्डीके ध्यानमें यह बात नहीं आहे। जिसमें शिखण्डीको यह न माल्म हो कि पितामह उनपर शख नही चलाते, अर्जुन बार बार शिखण्डीके उत्साहको बढ़ाकर उन्हें उत्तेजित करने लगे। अर्जुन बोले—'हे शिखण्डी! इस समय-भीषाको मारनेकी जी खोलकर चेष्टा करो। इस इतनी बड़ी सेनामें तुन्हें छोड़कर ऐसा एक भी योदा नहीं जो इस महान कामको कर सके। यदि तुम्हारी चेष्टा निष्फल गई तो इमारी और तुम्हारी दोनोंकी बे-तरह

"तब बलके मदसे मतवालेंसे होकर शिखण्डोंने अपने बाणोंसे भीषको तोप दिया। परन्तु पितामह इससे ज़रा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने हंसते हंसते उन सब बाणोंको अपने शरीरपर धारण कर लिया। शरीरमें इतने बाण छिद जाने पर भी उन्होंने व्यथाके कोई चिक्क नहीं प्रकट किये। उलटा दूने उत्साहसे वे पाण्डवोंको सेनाका नाश करते रहे। दुर्योधनने देखा कि अर्जुन इस तरह शिखण्डोंको रचा कर रहे हैं कि किसी भी कीरव वीरको पहंच शिखण्डों तक नहीं होती। इसलिये दुर्योधनने ललकार कर कहा—'हे योबाओं। तुम लोग तुरन्त ही अर्जुनपर आक्रमण करो। भीषा तुम्हारी रचा करेंगे। कोई तुम्हारा कुछ भी नहीं कर सकेगा।'

"इस आज्ञाकी अनुसार बड़े बड़े राजा—बड़े बड़े बल-विक्रम-शाली बीर—अर्जुनपर ढूंढ़नेकी लिये इस तरह दीड़े जैसे दीपक पर गिरकर जलनेकी लिये पतंग दीड़ते हैं। किन्तु अर्जुनके महा-वेगशाली बाणों और अन्त-श्रन्तोंकी मारसे विकल होकर कुछने तो गिरकर वहीं प्राण छोड़ दिये और कुछ भाग निकले। भीषकी रचा करनेवाले लोग शिखण्डीको मारनेकी जो चेष्टा करते थे उसे अर्जुन पहले ही की तरह अपने बाणोंसे व्यर्थ करते रहे। कोई भी शिखण्डीको कुछ भी हानि न पहुंचा सका।

"इस प्रकार बहुत देरतक युद्ध होता रहा। अन्तमें शिखगड़ी श्रीर दूसरे योद्वाश्रोंके बाणोंने पितामहको बेतरह घायल कर दिया। उनके शरीरमें सब तरफ़ घाव हो घाव हो गये। इससे उन्हें बहुत पौड़ा होने लगी। उन्होंने जान लिया कि हमारा अन्तकाल अब समीप है। तब उन्होंने अपनी रचाका यत करना छोड़ दिया। धनुर्बाण तो उन्होंने रख दिया श्रीर तरवार लेकर रथसे उतर पड़े। उस समय पितामहपर अर्जुनको दया आई। उन्होंने शिखण्डीके शिथिल बाणीं दारा पितामहको बहुत देरतक पौड़ित करना श्रीर व्यथा पहुंचाना व्यर्थ समभा। इसलिये उन्होंने चुद्रक नामक एक एक करके पचीस बाणींसे उनके ग्ररीरको भीतरतक वे-तरह छेद दिया। तब पितामहका अंग काबूमें न रहा, हाथ पैर आदि सब शिथिल हो गय। इस दशाको प्राप्त होनेपर, वग़लमें खड़े हुए दु:शासनसे **उन्होंने कहा—'हे दु:शासन।** ये बाख, जो हमारे इतने मज़वूत कवचको फोड़कर शरीरके भीतर चले जा रहे हैं, कदापि शिखण्डीके चलाये हुए नहीं हैं। ये बच श्रीर ब्रह्म-दण्डकी तरह वेगवाले अल्पन असहा भर, जो हमारे भरीरकी हिंडियोंतक को तोड़कर हमें वेतरह विकल कर रहे हैं, शिखरड़ी के धनुषसे कभी नहीं छूट सकते। ये अत्यन्त अाद पुष्पकारते हुए विषधर नागके समान तीर, जो हमारे मर्माखानोंके भीतर प्रवेश करके हमारा प्राण ले रहे है, ग्रजुनके गार्डीवधन्वासे निकले हुए है, इसमें कोई सन्देह नहीं। गार्डीवको क्रोड़कर श्रीर कोई इमें ज़सीनपर नहीं गिरा सकता।'

"यह कहते हुए भीषा पितामह धीरे धीरे ज़मीनपर गिर गये। किन्तु उनके शरीरमें इतने बाण छिटे हुए ये कि वह ज़मीनको नही छू गया। बीरोंके योग्य शरशय्यापर इस समय पितामह सो रहे हैं।

'हे महाराज। इस महावीरके शरीरके साथ हम लोगोंका सारा उत्साह नष्ट हो गया। सूर्यके समान तेजस्वी इस महात्माके साथ हमारी सारी श्राशा धूलमें मिल गई।

धतराष्ट्रने कहा—''हमारी ही सूर्खताने कारण पित्तुला भीषाकी जाज यह दशा हुई। इससे अधिक दुखकी बात हमारे लिए और क्या हो सकती है ? हमारा हृदय सचसूच ही परास्का है, नहीं तो ऐसी शोचनीय घटनाको सुनकर भी वह फट की नहीं गया ? ऋषियोंने चित्रयोंने धर्माको बड़ा ही दुखदायी बनाया है। उसे उन्होंने ऐसा दारुण कर दिया है कि उसके पालनके लिये पितामह ऐसे महात्माका वध कराकर हम लोग राज्य करनेकी दच्छा करते हैं, श्रीर उधर पार्डव भी उनका संहार करके राज्य पानेकी आशा रखते हैं। बीच धारामें नाव डूव जानेसे पार जानेकी इच्छा रखनेवालेकी जो दशा होती है, भीषाकी सत्युसे हमारे पुत्रोंकी ठीक वही दशा हुई है। हाय। भीषाके विना इस समय दुर्योधन अब किसके आसरे रहेंगे? हे सञ्जय! इस युडमें हमारे प्रतोंकी क्या दशा होगी, यह सोचकर पहलेसे ही हमारा हृदय शोकाग्निसे जल रहा था। तुमने भीषाकी सत्युकी खूबर सुनाकर उस आगमें मानों घी डालकर उसे और भी प्रज्वित कर दिया। उस भीमकर्मा महायोदा भीषाकी सृत्यु-वार्ता सुनकर हमारे मुंहसे श्रव बात नहीं निकलती। इसारी वानी बंद सी हो रही है। इसमें ग्रीर ग्रधिक बोलनेकी ग्रति नहीं है।' √

"इधर कुरु-सेनापित भीषाके ग्रर-ग्रय्यामें सो जानेपर कीरव लोग बे-तरह घबरा गये। कुछ देरतक एक दूसरेका मुंह देखते हुए सब लोग खड़े रह गये। यह किसीको न सुभा कि अब क्या करना चाहिये। अन्तमें दुर्योधनकी श्राज्ञासे दुःश्रासन, द्रोणाचार्थको सेनाको तरफ दौड़ते हुए गये। उन्हें इस प्रकार जल्दी जल्दी जाते देख सैकडों योदा, यह जाननेके लिये कि मामला क्या है, उन्हें चारों ग्रोरसे घेरकर उनके साथ साथ चले।

"द्रोणके पास पहुंचकर दुःशासनने उनसे भीषके मरनेकी बात कही। इस महा अमङ्गल समाचारको सुनते ही द्रोणाचार्थ एकाएक सूर्व्हित होकर रथपर गिर पड़े। होश आनेपर उन्होंने दूत-हारा अपने सेना-विभागको तत्काल युद्ध बन्द करनेके लिये आज्ञा दी। तब पाण्डवोंने भी शङ्घ-ध्विन करके उस दिनका युद्ध समाप्त किया।

"युद्ध बन्द होनेपर दोनों दलोंके सैनिक लोग अपने अपने कवच डतारकर और हिष्यार रखकर, भीषकी शर-शय्याके पास आये और बड़े आदरसे भीषको प्रणाम करके उन्हें चारों तरफ़से घरकर खड़े हो गये। तब कुरु-पितामहने कहा—'हे महाशयो। आपका स्वागत है। आपके दर्शनोंसे हमें बड़ा आनन्द हुआ।'

"कुछ देर ठहरकर भीषा फिर बोले—'हे नरेशहन्द। हमारे सिरके नीचे खाली हैं, इससे हमारे लिये एक तिकया ला दीजिये।'

"राजोंने उसी चण कई कोमल कोमल बहुमूल्य तिकये ला दिये। परन्तु भीषाने उन्हें न लेकर अर्जुनकी तरफ़ देखा और कहा—'बेटा। तुन्ही हमें सिरके नीचे रखने योग्य कोई चीज़ दो।'

"श्राखों में श्रांस् भरे हुए श्रर्जुनने पितामहने मनकी बात जान ली। गाण्डीव उठाकर भीषाके मस्तका नीचे तीन वाण उन्होंने मारे। वे सिर श्रीर ज़मीनके बीच ठहर गये। उन्होंने तिकयिका काम दिया। जैसे शर-श्रय्या थी, वैसा ही शरोंका तिकया बन गया। भीषा यही चाहते थे। ऐसा तिकया पाकर वे बहुत सन्तुष्ट हुए श्रीर श्रर्जुनको हृदयसे श्राशीर्बाद दिया।

"भीष बड़े ही दृढ़-स्वभावने श्रीर धीर पुरुष थे। ग्रस्तों मैं कहों घावोंसे उन्हें जो श्रमहा पीड़ा हो रही थी उसे ज़रा भी प्रकट न करके शान्त भावसे उन्होंने पीनेकी लिये पानी मांगा। सब लोग चारों श्रोर दीड़ पड़े। श्रनेक प्रकारकी खाने पीनेकी सामग्री श्रीर ठंडा जल लाया गया। परन्तु इन चीजोंसे पितामहको सन्तोष न हुश्रा देख, श्रजुनने फिर उनके मनकी बात जानकर, उनके दिच्चण तरफ़की ज़मीनको वारुणास्त्र हारा पातालतक छेद दिया। उससे श्रयन्त श्रीतल, विमल श्रीर सादिष्ठ दिव्य जलकी धारा निकली। उसने भीषाकी इच्छा पूर्ण कर दी। उसे देख उन्हें बड़ी प्रसन्तता हुई श्रीर उन्होंने श्रजुनकी बहुत प्रशंसा की।

"इसके अनन्तर, शरीरके भीतर धंसे हुए बाणों और दूसरे प्रकारके अखोंको निकालने और महरमपट्टी करनेवाले बहुतसे कुशल वैद्य बुलाये गये। वे लोग नाना प्रकारके यन्त्र और दवायें आदि लेकर भीषके पास उपस्थित हुए। उन शख्योद्धार-कुशल वैद्योंको देखकर भीष बोले—'हे दुर्योधन! तुम इन लोगोंका अच्छी तरह आदर सत्कार करके विदा कर दो। चित्रयोंको जिस गतिको वाञ्छा होती है उसी गतिको हम प्राप्त हुए हैं। हमारे लिये दवा-पानीको ज़रूरत नहीं। हमारी सत्यु हो जानेपर इसी शर-शय्याके साथ हमारे शरीरको दग्ध करना। जिस समय घायल होकर हम युद्धमें गिरे हैं उस समय स्थ्य दिल्ला दिशामें थे। हमने वर पाया है कि विना इच्छाके हमारी सत्यु नहीं होगी। अतएव जबतक स्थ्य दिल्ला दिशाको न छोड़ देंगे तबतक हम शरीर न छोड़ेंगे।'

"श्रख-वैद्योंके चले जानेपर भीषाने दुर्योधनसे कहा—'वेटा! तुन्हें चाह्रिये कि तुम क्रोधको छोड़ दो। जोसे हमारी यही इच्छा है कि हमारे मरने ही से युद्ध समाप्त हो जाय। हम चाहते हैं कि हमारी मृत्युके अनन्तर प्रजाको शान्ति-सृख मिले। राजा लोग प्रसन्न होकर परस्पर एक दूसरेको गलेसे लगावें, पिता पुत्रसे मिलें, भाई भाईसे मिलें, और कुटुस्बी कुटुस्बियों से मिलें। इससे, हे राजन्। तुम ईर्ष्या-हेष छोड़ो। मनकी मलीनता दूर कर दो। प्रसन्न हो। पाण्डवोंको आधा राज्य देकर उनकी साथ सन्धि कर लो।

"श्रुत्ति गहरे घाव लगनेके कारण भीषा पितामह विकल हो रहे थे। इससे और अधिक वे न बोल सके। उन्होंने आंखें बन्द कर लीं और योगियोंकी तरह प्राणींको ब्रह्मरमुमें खींचकर चुप हो गये। पाण्डवों कौरवीं और अन्य राजा लोगींने तीन दफे उनकी प्रदित्तणा करके प्रणाम किया। फिर उनके चारों तरफ खाई खोदकर और संतरी मुक्रेर करके सब लोग उदास मन अपने अपने डेरेको लीट आये।

"जिस मनुष्यकी सत्यु निकट होती है उसे द्वा नहीं अच्छी लगती। ठीक यही हाल दुर्योधनका समिभिये। उन्हें भीषका उपदेश विलक्षल ही नहीं रुचा। इधर महाबीर कर्णने जब भीषकी शर-श्याका हाल सुना तब वे पहला वैर भूल गये श्रीर तुरन्त ही उनके पास श्राकर उपस्थित हुए। श्रांखें बन्द किये हुए, लोइसे सरावोर श्राखिरी श्र्यापर लेटे कुरु-पितामहको देखकर द्यावान् कर्णका कर्छ भर श्राया। वे उनके पैरोंपर गिरकर कहने लगे—'हे महात्मा। श्रापकी श्रांखोंके सामने होनेपर श्राप सदैव जिसपर श्रपसन्न होते थे वही राधिय कर्ण श्रापको प्रणाम करता है।'

"यह वचन सुनकर भीषाने बड़े कष्टसे श्रांखें खोलीं। उन्होंने देखा कि कर्णके सिवा वहां श्रीर कोई नहीं है। तब उन्होंने संतिरियोंको दूर इटाकर कर्णको, पिताकी तरह, दाइने हाथसे कातीसे लगाया और बड़े प्रेमसे इस प्रकार कहना आरस किया—

'हे कर्ण। यद्यपि तुमने सदा ही हमारे साथ सर्वा की है— सदा इससे दूर्था-देष रक्ला है—तथापि इस समय यदि तुम इमारे पास न अति तो इस नियय ही बहुत दुखी होते। इसने यह बात वच्चत विश्वासपाव मार्गसे सुनी है कि तुम राधाके नहीं, कुन्तीके पुत्र हो। इस सच कहते हैं, इसने कभी तुससे देष नहीं किया। तस पार्ख्वोंका विरोध करते थे इसलिये इस कभी कभी कठोर वचन कहकर राइपर लाने की यल करते थे। इस चाहते थे कि तुसें अपने खरूपका—अपने तेजका ज्ञान हो जाय। इस इस बातकी अच्छी तरह जानते हैं कि तुम बड़े वीर श्रीर बड़े धर्माला हो। यहले जो तुमपर हमारा क्रोध या वह त्राज विलक्षल जाता रहा। हे वीरिशरोमणि! पीरुष और प्रयत्नकी अपेचा भाग्य ही वलवान् है। इससे और वया युद्ध करनेसे क्या लाभ ? तुम यदि अपने सहोदर भाई पार्डवींके साथ मेल कर लोगे तो यह सारा वैरभाव मिट जायगा, अतएव, हमारी दच्छा है कि हमारे प्राणोंके ख़र्चसे ही इस युदकी समाप्ति हो जाय।'

"कर्ण बोले—'हे पितामह! आपने जो कुछ कहा उसमें कुछ भी संदेह नहीं। सचमुच ही हम कुन्तीने पुत्र हैं। किन्तु कुन्तीने पैदा होते ही हमें त्याग दिया, स्त अधिरथने हमें पड़ा देख दया करके बड़े प्रेमसे हमारा लालन-पालन किया। इसके बाद दुर्योधनकी कपासे हम बड़े हुए। हमारे ही कारण इस विषम बैरकी आग जली है। इससे आप हमें अर्जुनके साथ युड करनेकी आजा दीजिये। बीमार होकर मरना चित्रयोंको कभी उचित

नहीं। इसीसे इन महापराक्रमी पाण्डवींके साथ युद्ध करनेकी हमने प्रतिज्ञा की हैं।'

"तब भीषनं वहा—'हे वर्ण! यह दारुण बैर मेट देना यदि विलक्षल ही असम्भव हो तो हम आज्ञा देते हैं कि खर्गप्राप्तिकी इच्छासे तुम अहङ्कार छोड़कर युद्ध करो। हमने पहले ही से इस युद्धको रोकनेकी बहुत चेष्टा की; पर हमारी सारी चेष्टायें व्यर्थ गई'।'

"भीषाका उपदेश सुन चुकनेपर कर्ण उनको प्रणाम करके दुर्योधनके पास गये।"

हिन्दी भाषा

विवृ वालमुकुन्द गुप्त (सवत् १ ६२२-१ १ ६४ वि०) — ये एक प्रतिभाशाली निपुण सम्पादक तथा गया और पदा दोनों जे उचकोटिने लेखक थे। फारसी उर्दू ने भी पित थे। पटनकाल हो 'अवधपन' आदि उर्दू पत्नों में लेख दिया करते थे। लेख लिखने ये प्रख्यात हो गये और सं० १ १ ४४ में 'अखनार-ए-चुनार' के सम्पादक नियत हुए। यही से इनका साहित्यिक जीवन आरम्भ हुआ। एक ही वर्ष वाद लाहीर के 'को हेनूर' के सम्पादक हुए। कुक दिनों वाद हिन्दी में लेख लिखने लगे, और स० १ १ ४६ में कालाकाकर के 'हिन्दोस्थान' के सहकारी सम्पादक हुए। इसके वाद कई वर्षी तक हिन्दी वगवासी के सम्पादक रहे। सं० १ १ ५ भी भारतिमत' के सम्पादनका भार लिया और यो है दिनों में उसे भारतका प्रधान हिन्दी पत्र बना दिया। हिन्दी भाषा मास्त्र में कुक ऐसे अनमोल रत्न ही अग्री ही लिन्हों ने इन्हें अमर बना रखा है। इनकी भाषा

वडी ही सरल, सरस, सक्छ, चठकोली और दिलमें चुभनेवाली होती थी। इनकी शैली ही निराली है। इनके लिखोमें व्यगके साथ साथ मनोरंजनको सामग्री भी कम नहीं मिलती। ये वर्ड ही मिलनसार और हास्प्रिय थे। हास्प्रियताके नमूने भी इनके लिखोमें वहुत है। राजनेतिक और सामाजिक विषयोगर इनके लिख अनोखे ढंगके होते थे। इनका 'शिवश्रमुका चिद्वा' वडा प्रसिद्ध है। समालीचक भी ये अदितीय थे। इनकी समालीचनासे उस समयके प्राय: सभी लिखक डरते थे, क्योंकि उचित वात कहनेमें ये ज़रा भी नहीं हिचकते, और वडी निर्दयताके साथ उनके दोशोंको सवसारायके सामने प्रकट कर देते थे। केवल ४२ वर्षकी अवस्थामें हिन्दी-प्रेमियोको शोकाकुल कर परलोकवासी हुए।]

वर्त्तमान हिन्दी भाषाकी जन्मभूमि दिल्ली है। वही ब्रजभाषासे वह उत्पन्न हुई श्रीर वहीं उसका नाम हिन्दी रखा गया।

श्रारमभें उसका नाम रेखता पड़ा था। बहुत दिनीतक यही नाम रहा। पीछे हिन्दी कहलाई। कुछ श्रीर पीछे उसका नाम उर्दू हुश्रा। श्रव फारसी भेषमें श्रपना उर्दू नाम ज्योंका त्यों बना हुश्रा रखकर देवनागरी वहींमें हिन्दी भाषा कहलाती है।

हिन्दीके जन्मसमय उसकी माता ब्रजभाषा खाली भाषा कहलाती थी। क्योंकि वही उस समय उत्तर भारतकी देशभाषा थी। पर वेटीका प्रताप शीघ्र इतना बढ़ा कि माताके नामके साथ ब्रज शब्द जोड़नेकी आवश्यकता पड़ी। क्योंकि कुछ बड़ी होकर वेटी भारतवर्षकी प्रधान भाषा बन गई और माता केवल एक प्रान्तकी भाषा रह गई। अब माता ब्रजभाषा और प्रवी हिन्दी भाषा कहलाती है।

यद्यपि हिन्दीकी नींव बहुत दिनोंसे पड़ गई थी पर उसका जन्मकाल शाहजहांके समयसे माना जाता है। सुगल सम्बाट् शाहजहां के वसाये शाहजहां ना बादि वाजार में इसका जन्म हुआ। कुछ दिनोंतक वह निरी बाजारी भाषा बनी रही। बाजार में जन्म प्रहण करने से ही इसका नाम उर्दू हुआ। उर्दू तुर्की भाषाका शब्द है। तुर्की में उर्दू लशकर या छावनी के बाजार को कहते हैं। शाहजहां नी लशकर के बाजार में उत्पन्न होने के कारण जन्म खान के नामपर उसका नाम उर्दू हुआ।

उसका नाम हिन्दी भी मुसलमानींका रखा हुआ है। हिन्दी फ़ारसी भाषाका शब्द है। उसका अर्थ है हिन्दीसे रखनेवाली अर्थात् हिन्दुस्थानकी भाषा। ब्रजभाषामें फारसी, अरवी, तुर्की यादि भाषायोंके मिलनेसे हिन्दीकी सृष्टि हुई। उत्त तीनीं भाषात्रींको विजेता मुसलमान अपने देशींसे अपने साथ भारतवर्षमें लाये थे। सैकडों साल तक मुसलमान इस देशमें फ़ारसी वोलते रहे। फारिसके विजेताओं ही का इस देशमें अधिक बल रहा है। अरवी, तुर्की बोलनेवाले वहुत कम थे। जब इन लोगोंकी कई पीढ़ियां इस देशमें, वसते हो गईं तो इस देशकी भाषाका भी उनपर प्रभाव चुत्रा। भारतकी भाषाएं उनकी भाषामें मिलने लगीं और उनकी भाषा भारतकी भाषामं युक्त होने लगी। जिस समय यह मेल होने लगा या उसे अब छः सौ वर्षसे अधिक हो गये। श्रारभमें उक्त मेलजोल सामान्य सा था। धीरे धीरे इतना बढ़ा कि फ़ारसी श्रीर व्रजभाषा दोनोंके संयोगसे एक तीसरी भाषा उत्पन हो गई। उसका नाम हिन्दी या उर्दू जो चाहिये सो समभ फ़ारसी भाषाके कवियोंने इस नई भाषाको ग्राइजहानी वाजारमें अनायावस्थामें इधर उधर फिरते हुए देखा। उन्हें इसकी भोली भाली सूरत बहुत पसन्द आई। वह उसे अपने घर ले जाकर

पालने लगे। उन्होंने हो उसका नामकरण किया और उसे रखता कहकर पुकारने लगे। और इजिबकी समयमें उक्त भाषामें किता होने लगे। सहमाद भाहके समयमें उक्ति हुई और भाहे आलम सानीके समयमें यहांतक उक्ति हुई कि बहुतसे अच्छे किवयोंके सिवा स्वयं बादभाइ उक्त भाषामें किवता करने लगे और एक नामी किव कहलाये। कितने हो हिन्दू किव भी इस भाषामें किवता करने लगे। साधु महात्माओं के कुटीरतक भी इसका प्रचार होने लगा। वह अपने भगवइक्तिके पद इस भाषामें रचने लगे।

मुसलमानी अमलदारीमें इस भाषामें केवल फ़ारसी कविताके ढंगके कविता होती रही। गद्यकी उस समय तक कुछ ज़रूरत न पड़ी। जब श्रंगरेजोंके पांव इस देशमें जम गये श्रीर मुसलमान राज्यका चिराग ठंढा होने लगा तब इस भाषामें गद्यकी नींव पड़ी। गर्चकी पहली पोथी सन् १७८८ ई०में लिखी गई। सन् १८७२ ई॰में जब दिल्लीमें 'बागोबहार' नामकी पोधी तैयार हुई तो गद्यकी चर्चा कुछ बढ़ी, यहांतक कि हिन्दुश्रोंका भी इधर ध्यान चुत्रा। कविवर लज्जूलालजी आगरा-निवासीने अगले ही वर्ष सन् १८०३ ई०में प्रेमसागर लिखा। मुसलमान लोग अपनी पोथियां फ़ारसी अचरोंमें लिखते थे। लक्षूलालजी ने देवनागरी अचरोंमें अपनी पोथी लिखी। पर दुखकी बात है कि लक्क्नोंके पीछे बहुत कालतक ऐसे लोग उत्पन्न न हुए जो उनके दिखाये मार्गपर चलते श्रीर उनके किए हुए कामकी उन्नित करते। इसीसे उनका काम जहांका तहां रह गया। देवनागरीके अचरोंमें प्रेमसागरकी ढंगकी नई नई रचनाएं करनेवाले लोग साठ सालतक फिर दिखाई न उधर फ़ारसी अचरों वाले उन्नति करते गये। गदामें

उन्होंने और भी कितनी ही पोथियां लिखीं। पोछे सन् १८३५ ई॰में उनके सीभाग्यसे सरकारी दफतरोंमें फारसी अचरोंको साथ हिन्ही (उर्दू) जारी हुई। इससे नागरी अचरोंको बड़ा धक्का पहुंचा। उनका प्रचार बहुत कम हो चला। जो लोग नागरी अचर सीखते थे वह फ़ारसी अचर सीखनेपर विवश हुए। फल यह हुआ कि हिन्ही भाषा हिन्ही न रहकर उर्दू बन गई। हिन्ही उस भाषाका नाम रहा जो टूटी फूटी चालपर देवनागरी अचरोंमें लिखी जाती थी। न वह नियमपूर्वक सीखी जाती थी और न उसके लिखनेका कोई अच्छा ढंग था। कितता करनेवाले ब्रजभाषामें किवता करते हुए पुरानी चालपर चले जाते थे जो अब भी एकदम बन्द नहीं हो गई है। गद्य या तो आपसकी चिट्ठी पत्रियोंमें बड़े गंवारी ढंगसे जारी था या कोई एक साथ गुमनाम विढगी पोथीमें दिखाई देता था।

पचास सालसे अधिक हिन्दीकी यही दशा रही। उसका नाम निशान मिटनेका समय शा गया। उसके साथ ही साथ नागरी अचरोंका प्रचार एकदम उठ चला। देवनागरी अचरोंके एक छोटी मोटी चिही भी ग्रंड लिखना लोग भूल चले थे। उद्देका जोर बहुत बढ़ चला था। अचानक समयने पलटा खाया। कुछ फारसी अङ्गरेजी पढ़े हुये हिन्दू सज्जनोंके हृदयमें यह विचार उत्पन्न हुशा कि फारसी अचरोंका चाहे कितना ही प्रचार हो जाय सर्वसाधारणमें फैलनेके योग्य देवनागरी अचर ही हैं। स्वर्गीय राजा शिवप्रसादकी चेष्टासे काशीसे बनारस अखबार निकला। उसकी भाषा उर्दू और अचर देवनागरी थे। राजा शिवप्रसाद हारा देवनागरी अचरोंका और भी बहुत कुछ प्रचार हुआ। पीईहे

काशीवालोंने हिन्दी भाषां सुधारकी श्रोर भी ध्यान दिया श्रीर सुधाकर पत्र निकाला। पर वह चेष्टा भी विफल हुई। श्रन्तको श्रागरा-निवासी खर्गीय राजा लच्मणसिंहने श्रे शकुन्तलका हिन्दी श्रमुवाद किया। श्रच्छी हिन्दी लिखनेवालोंको फिरसे एक मार्ग दिखाया, यद्यपि उसका श्रु श्रमुवाद २५ साल पीछे सन् १८८८ ई॰में प्रकाशित हुश्रा जब कि हिन्दीकी चर्चा बहुत कुछ फैल चुकी थी, तथापि राजा श्रिवप्रसादके गुटकेमें मिल जानेसे उसके पहले श्रमुवादका बहुत प्रचार हो चुका था। सन् १८७८ ई॰ में उत्ता साहबने रहुवंशका गद्य हिन्दीमें श्रमुवाद किया उसकी भूमिकामें वह लिखते हैं—

"हमारे मतमें हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी है। हिन्दी इस देशके हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहांके सुसलमानों और फ़ारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दीमें संस्कृतके पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी फ़ारसी के परन्तु कुछ अवध्य नहीं है कि अरबी फ़ारसी के प्रब्दों बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषाको हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी फ़ारसी के प्रब्द भरे हों। इस उल्यामें यह एक नियम रक्वा गया है कि कोई पद अरबी फ़ारसी का न आये।"

राजा साइव उर्दू फ़ारसी भली भांति जानते थे। तिसपर भी हिन्दी और उर्दू को नेवल इसलिए दो न्यारी बोली बताते थे कि एकमें संस्कृतके शब्द अधिक होते हैं और दूसरीमें फ़ारसी अरबीके शब्द। अस्तु, इस कथनसे यह स्पष्ट है कि हिन्दी और उर्दू में नेवल संस्कृत आदिने शब्दोंके लिये भेद है और सब प्रकार दोनों एक हैं। साथ ही यह भी विदित होता है कि उर्दू से उस समय कुछ शिचित

हिन्दू घवराने लगे ये और समभने लगे ये कि फ़ारसी अरबी प्रव्होंके वहुत मिल जानेसे हिन्दी हिन्दी नहीं रही कुछ और ही हो गई। हिन्दुओं के काममें वह नहीं या सकती। ईखरकी इच्छा यो कि हिन्दीकी रचा हो इसीसे यह विचार कुछ प्रिचित हिन्दुओं के हृदयमें उसने अंकुरित किया। गिरती हुई हिन्दीको उठानेके लिये उसकी प्रेरणासे खर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रका जन्म हुआ।

इरियन्द्रने हिन्दीको फिरसे प्राणदान किया। उन्होंने हिन्दीमें अच्छे समाचार-पत, मासिक पत्र आदि निकाली और उत्तम लेखीं, नाटकों श्रीर पुस्तकोंसे इसका गीरव बढ़ाना श्रारक किया। यद्यपि उन्होंने बहुत घोड़ी श्रायु पाई श्रीर सतरह श्रठारह वर्षसे अधिक हिन्दीकी सेवा नहीं कर सके, तथापि इस अल्पकाल ही में हिन्दी-संसारमें युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनके सामने ही कितने हिन्दीके अच्छे लेखक हो गये थे। कितने ही समाचार-पत निकलने लगे थे। जिस हिन्दीकी श्रोर पहले लोग श्रांख उठाकर भी न देखते य वह सबकी आंखोंका तारा हो चली थी। हरियन्द्रने हिन्दीने लिये क्या किया यह बात आगे कही जायगी। यहां नेवल इतना ही कहना है कि आज उन्हींकी चलाई हिन्दी सब जगह फैल रही है। उन्होंकी हिन्दीमें श्राजकलके सामयिक-पत्र निकलते है श्रीर पुस्तकों बनती है। दिन पर दिन लोग शुद्ध हिन्दी खिखना श्रीर ग्रुड देवनागरी लिपिमें पत्न-व्यवहार करना सीखर्त जाते है। यद्यपि बङ्गाली, मराठी त्रादि भारतवर्षकी त्रन्य कई भाषात्रींसे हिन्दी अभी पीछे है तथापि समस्त भारतवर्षमें यह विचार फैसता जाता है कि इस देशकी प्रधान भाषा हिन्दी ही है श्रीर वही यहांकी राष्ट्रभाषा होनेके योग्य है। साथ साथ लोग यह भी मानते जाते है कि सार

भारतवर्षमें देवनागरी अचरींका प्रचार होना उचित है। हरिश्वन्द्रके प्रसादसे यह सब हुआ और आजकी चर्चा करनेका अवसर मिला।

इस समय हिन्दीके दो रूप हैं। एक उर्दू और दूसरा हिन्दी। दोनोंमें केवल शब्दका भेद नहीं लिपि-भेद बड़ा भारी पड़ा हुआ है। यदि यह भेद न होता तो दोनीं रूप मिलकर एक हो जाते। यदि श्रादिसे फ़ारसी लिपिके स्थानमें देवनागरी लिपि रहती तो यह भेद न होता। अब भी लिपि एक होनेसे भेद मिट सकता है। पर जल्द ऐसा होनेकी आशा कम है। अभी दोनों रूप कुछ कालतक अलग अलग अपनी अपनी चमक दमक दिखानेकी चेष्टा करेंगे। ग्रागे समय जो करावेगा वही होगा। बड़ी कठिनाई यह है कि दोनों एक दूसरेको न पहचानते हैं न पहचाननेकी चेष्टा करते हैं। इससे बड़ा भारी अन्तर होता चला जाता है। जो लोग उदू के अच्छे कवि और ज्ञाता हैं वह हिन्दीकी और ध्यान देना आवश्यक नहीं समभते। इसीसे देवनागरी अचर भी नहीं सीखते श्रीर भारतवर्षको साहित्यसे निरे अनिभन्न हैं, अरब श्रीर फ़ारिसके साहित्यकी ग्रोर खिंचते हैं। साथ साथ भारतवर्षके साहित्यसे प्रणा करते श्रीर जी चुराते हैं। उधर हिन्दीके प्रेमी उर्दू की श्रोर कम दृष्टि रखते हैं श्रीर उर्दूवालोंको अपनी श्रोरकी बातें ठीक ठीक समभानेकी चेष्टा नहीं करत। यदि दोनों श्रोरसे चेष्टा हो तो इस भाषाकी बहुत कुछ उन्नित हो सकती है श्रीर दोनोंमें मेल भी बहुत बढ़ सकता है। मैं इस लेख दारा दोनों श्रोर्क लोगोंको एक दूसरेकी बातें ठीक ठीक समभा देनेकी चेष्टा करूंगा। इसमें मेरा अधिक अम हिन्दीवालोंके लिये होगा।

हिन्दी क्या है १

[वावू गांधाक्षणटास (संवत् १८२२-१८६४ वि०)—ये भारतेन्दु हरियन्द्रजीने फृफेरे भाई थे जिन्होंने इन्हें हिन्दी लिखनेनो एताहित किया था। सतीप्रताप, राजसिंह श्रादि भारतेन्दुजीने श्रधूरे ग्रयोको इन्होंने पूरा किया। इन्होंने भारतेन्दु, स्रदास, नागरीटास श्रीर विहारीलालकी सिचप्त जीवनिया लिखी है। ये छटूँ ने भी विहान् थे। इनने पदा हिन्टी शीर छटूँ दोनो वर्ड सुन्टर होते थे। गदाकी भाषा उत्तम होती थी।]

हिन्दोस्तान निवासी जनसाधारणकी भाषाका नाम हिन्दी है। हिन्दीके बहुत कुछ रूपान्तर हुए श्रीर वर्तमान कालमें भी बहुतसे मेद हैं। हिन्दुस्तानकी बनावट पृष्टीके सब देशोंसे कुछ विलचण ही है, ध्यान देकर देखियेगा तो स्पष्ट जान पहेंगा मानों परमेश्वरने संसारको बनाकर इस देशको सबका एग्जिविशन (प्रदर्शनी) बनाया है। इस देशके जितने खंड हैं, उतनी ही चाल, उतने ही जुदे जलवायु, प्रकृति, सारी पृष्टीका नमूना यहां मिलता है। अरबदेश सी गर्मी श्रीर रिगस्तान इस देशमें देख लीजिये, लैपलैग्डसी सर्दी इस देशमें अनुभव कर लीजिये, काबुलके मेवे यहां लीजिये, संसार भरके अब यहां खाइये, गोरेसे गोरे कालेसे काले वीरिश्ररोमणि, मारतींके पीछे भागतींके श्रागे, सभी प्रकृति सभी श्राकारके मनुष्य यहां हैं। काश्मीर भी इसी देशमें है श्रीर मारवाड़का रेगिस्तान भी यहीं। इन्हीं कारणोंसे यहांकी भाषाके भी बहुतेरे भेद है। दूसरे श्रीर देशोंमें इसके विरुद्ध एक ही सा जलवायु एकही सा रूप श्राकार स्वभाव भाषा फलफल श्रव सब

एक ही से पाये जाते है। इसलिये श्रीर देशों के साथ मिलान कर के इस देशका अनुमान करना कठिन ही नहीं वरन् असन्भव है, परन्त क्या इससे यही सिंह हो गया या यही मान लेना चाहिये कि इस देशकी कोई एक भाषा नहीं है? यदि श्राप ध्यान देकर देखेंगे तो अवश्य हो सबके भीतर मूल एक ही पावेंगे। सब भेदान्तरोंको एकहो स्वमं वंधा पावंगे। वह स्त्र कौन है? हिन्दीमं चाहे जिसका भेद देखिये, चाहे उसे वंगालिनके भेषमें देखिये, चाहे पारसिनोंकी साड़ी श्रीर रूमाल पहिरे देखिये, चाहे पाश्चिमाल वड़े वड़े घांघर श्रीर श्रीढ़नीके घूंघटमें पाइये, श्रीर चाहे पायनाम। श्रीर दुपट्टेकी पोशाक पहने यवनग्रहमें देखिये, परन्तु तनिक भी विचारपूर्वेक आप जिस समय देखेंगे अनायास पहिचान लेंगे—यह तो हिन्दी है। निदान हिन्दुस्तानकी यदि कोई एक भाषा हो सकती है तो वह हिन्दी ही है। यद्यपि हिन्दी श्रीर डर्टू ये दो भाषा इस समय प्रचलित है श्रीर सदासे इन दोनोंमें भगड़ा चला ही आता है, परन्तु यद्यार्थमें उर्दू और कुछ नहीं है नेवल हिन्दी ही है। भेद इतना ही है कि हिन्दीसे श्रीर जितनी भाषा बनी है वे सीधे अचरोंमें अर्थात् देवनागरी अचरोंसे निकले अचरोंमें लिखी जाती हैं और उर्दू उलटे अचरोंमें, अर्थात् फ़ारसी अचरोंमें, लिखी जाती है। यद्यपि उदू में फ़ारसीने कठिन शब्दोंनो मिलाकर लोग इतनी कठिन भाषा बना डालते हैं जितनी कि हिन्दीको लोग संस्कृत शब्दोंसे, परन्तु यथार्थ रूप उर्दू का देखिये तो सिवाय चिन्दीके ग्रीर कुछ न पाइयेगा, क्रिया तो सब हिन्दीकी निर्विवाद हुई है, परन्तु शब्द भी हिन्दीने बहुतसे मिलेंगे।

यह साधारण नियम है कि जब जो राजा होता है और जो

उसकी भाषा होती है तब वही प्रधानता प्राप्त करती है। इसीसे मुसलमान बादशाहीके समय हिन्दीमें ब्हुतसे फ़ारसी शब्द ऐसे मिलजुल गये कि अब वे मानों हिन्दीके ही जान पडते हैं। किसी भांति वे चिन्दीसे अलग नहीं किये जा सकते। यहांतक कि अच्छे श्रक्के हिन्दीने लेखन भी उन्हें बेधडन लिख जाते है श्रीर नभी उनपर ध्यान भी नहीं जाता। यह कुछ श्रायर्थे नहीं है क्योंकि मुसलमानी राज्य तो लगभग इजार वर्षतक यहां रहा है। अंगरेज़ी राज्यको अभी डेढ़ ही सी वर्षके लगभग हुए, परन्तु अंगरेज़ीके वहुतसे शब्द ऐसे मिलजुल गये है कि अब वे हिन्दी होके जान पडते है-जैसे रेल, टेशन, लालटेन, टमटम इत्यादि। परन्तु यथार्थमें देखिये तो हिन्दोस्तानकी भाषा हिन्दी ही पाइयेगा। कुछ लोगोंका यह कथन है कि प्राय: ग्रामीण लोग उर्दू ही समभ सकते हैं, संस्कृतके शब्द मिली हिन्दी नहीं समभ सकते, परन्तु यह ठीक नहीं है। कीन ऐसा हिन्दू है जो साधारणतः रामायणको न समभ सकता हो ? इसमें सन्देह नहीं कि वे संस्कृतके कठिन शब्द नहीं समभ सकते परन्तु साथही वे उदू के भी कठिन शब्द नहीं समभ सकते। उनके लिये जैसे महाश्य श्रीर महोदय है, वैसे ही जनाब ग्रीर चुजूर है। उनको तो यदि ग्राप राउरे या राउर कच्कर सम्बोधन कौजिये तो वे भट समभ जायंगे, परन्तु यह शब्द कहांसे आया ? क्या यह संस्कृतके 'रावल' शब्दका अपभंश नहीं है ? यों ही जब श्राप ध्यान देकर देखेंगे तो जनसाधारणकी बोलचालमें अधिकतर ठेठ हिन्दीके प्रन्दींको या संस्कृतके बिगड़े शब्दींको पावेंगे श्रीर जो फ़ारसीके शब्द उनमें मिलेंगे वे भी ऐसे ही होंगे जो अब हिन्दीने साथ ऐसे मिल गये हैं मानों ने

हिन्दीहोते है। हिन्दीकी चिट्ठीपत्रीकी प्रशस्त, बहीखातेकी लिखावट श्रादि देखिये, सबसें श्राप सुख्य शब्द हिन्दी ही संस्तृतके पाद्रयेगा। श्राप हिन्दुश्रोंकी बात जाने दीजिये, सुसलमानी महन्ने या गांवमें चिलये श्रीर साधारण सुसलमानोंसे दस्तखत कराना श्रारम कीजिये देखिये जितने लिखेपढ़े सुसलमान मिलेंगे उनमें श्रिषकता हिन्दीहीमें दस्तखत करनेवालोंकी होगी। डाकखानोंमें देखिये तो श्रिषक चिट्ठियां हिन्दी ही सिरनामेकी मिलेंगी। पुस्तकोंमें देखिये तो रामायणके बरावर किसी उर्दू पुस्तककी बिक्री न होगी, बरंच उर्दू श्रिलफलेलासे हिन्दीमें उसका श्रुवाद श्रिषक विकता है।

इम जपर सिंब कर चुके है कि भिन्न भिन्न प्रकृति श्रीर जल-वायुक्ते कारण भाषामें भी भिन्नता पायी जाती है, परन्तु यथार्थमें सब भाषा हिन्दीहीने रूपान्तर हैं। सब प्रान्तने निवासी कुछ कठिनतासे हिन्दी बोलीको समभ असकते हैं और अधिकांश लोग ट्रटी फूटी हिन्दी बोल भी लेते हैं, परन्तु हिन्दोस्तानमें प्रतियोजन अर्थात् बारह कोसपर बोली बदलती जाती है और इसीसे बहुतसे रूप हो गये हैं। व्रजसे चाहे जिस श्रोर चलिये, बराबर थोडा थोड़ा भेद पाते जाइयेगा। यहांतक कि वङ्गाल पहुंचते पहुंचते वह बङ्गला हो जायगी। और उधर दिल्ए पहुंचते पहुंचते गुजराती श्रीर महाराष्ट्री हो जायगी। परन्तु क्रमसे मिलाते चलिये तो बहुत स्पष्ट भेद जान पड़ेगा। निदान हिन्दीके हिन्दोस्तानकी भाषा होनेमें कोई सन्देह नहीं है, पर इसके बहुतसे भेद हो गये हैं, जिनमें चार मुख्य हैं, १-पूरबी-बनारस प्रान्तकी, २-कनीजी —कानपुर प्रान्तकी, ३-- ब्रजभाषा-श्रागरा मथ्रा प्रान्तकी, 8-खड़ी बोली-सहारनपुर मेरठ प्रान्तको।

यह सब भेद तो हुए बोलचाल श्रीर प्रादेशिक हिन्दीके। श्रब हमें उस हिन्दीकी श्रीर ध्यान देना चाहिये जो सभ्य समाज, राज्यदर्बार वा साहित्यमें बरती जाती हो, श्रीर जिससे सारे देशसे सम्बन्ध हो। वह खडी बोली है। वर्तमान समयमें उर्दू श्रीर हिन्दी दोनों ही सभ्य भाषा खडी बोलीहीके भेद हैं।

सारे संसारकी यह रीति है कि जनसाधारणकी बोलचालसे श्रीर साहित्यकी भाषासे बढ़ा भेद रहता है। साहित्यकी भाषा कंचे दर्जिकी रहती है, अतएव हम लोग हिन्दी भाषा उसीको कहेंगे जिसमें ग्रुड शब्द हों और जिसमें विद्या-सम्बन्धी किसी विषयके लिखनेंमें कठिनता न हो। जब कि श्रंगरेज़ोंके बच्चोंके लिय व्याकरण आदि पढ़नेकी आवश्यकता होती है तो हिन्दोस्तानियोंको हिन्दी ग्रन्थ समभनेंके लिए हिन्दी पढ़नेकी आवश्यकता हुई तो इसमें आव्यं क्या है १ पर हां, सायही हम यह अवश्य कहेंगे कि कचहरीकी भाषा ऐसी ही सहज रहनी चाहिये जो सर्वसाधारणकी समभनें यथासंभव अनायास आ सके, चाहे आवश्यकतानुसार उसमें उर्दू और श्रंगरेज़ीके भी शब्द मिला दिये जायं।

नाटक और उपन्यास

[बाबू गीपालराम गहमरी (स॰ १८२३-वर्त्तमान)—कुछ दिनोतक ये कालाकाकरके 'हिन्दोस्थान' पत्रके संपादनमें सहायता देनेके लिये प॰ प्रतापनारायण मित्र, वात् वालसुक्जन्द ग्रत आदि साहित्यसेवियोक्ते साथ रहे जिससे इनका हिन्दीप्रेम सुष्टढ हो गया। वही इन्होने बंगला भाषा सीखी। इन्होने कई पत्रोका सम्पादन किया और पीछे गहमरसे 'जास्स' नामक मासिकपत्र निकाला, और वहतसे छपन्यास लिखे। इनकी प्रकारोका प्रचार भी अच्छा हुआ। भाषाके विषयमें इनका कहना है कि "भाषा ऐसी नही होनी चाहिये कि पढनेवालोको अभिधान छलटते छलटते पसीना आ जाय।"]

अपदेश जगत्का बहुत बड़ा बोभा साहित्यके द्रन्हों दो अट्टर भीर अजर पहियोंपर रहता है। ये दोनों चक्के ऐसे पक्के और प्रीढ़ हैं कि जबसे जगत्की सृष्टि हुई और उपदेशका जबसे उपयोग होने लगा तबसे ये दोनों सदा सब देशके साहित्यमें उपदेश वहनका कार्य निरन्तर करते आते हैं किन्तु तिनक भी नहीं घिसे, न नाकाम हुए।

मतलब हमारे कहनेका यह है कि जब किसी देशके मर्भज्ञानी साहित्यसेवीने देश-सुधारका काम अपने माथे उठाया तब उपदेशका काम दन्हीं दो उपन्यास और नाटकोंसे लिया है।

* * * * *

दिन भरके काम-काजसे निपटकर जब भारतवर्षके लोग श्रपनी
. मंड्रयामें विश्वाम करते हैं तब जिनको सदा खतन्त्र भावसे पेट
भरना श्रीर ष्ट्रिश सरकारके राम-राज्यमें नित्य श्रपने बाल-बची

सहित दिन बितानेका सीभाग्य है अथवा जिनको पेटके निमित्त पराई सेवाके लिये पराधीन होकर परिवारसे दूर रहना और वहीं के नवपरिचित हितिमित्रोंमें समय काटना पड़ता है ऐसे दोनों दरजें के आदमी उस विश्वामके समय जब साथमें दो चार और रहते हैं तब यह बात उठती है कि भाई कोई किस्सा कहो। इसीको देहाती कहत है अच्छा एक कहानी कहो। होश सम्हां हुए बालक बालिका, माता पिता, काका ताऊसे कहते हैं—ए ओ कहानी कह।

बड़े, बूढे, भाई बहन या पड़ोसी जिनसे यह अनुरोध किया जाता है वह एक राजा या सात राजा अथवा राजाकी वेटी या राजाके कुंवरकी कहानी कहते हैं। उन कहानियों में करुणा, वीर, शान्त, वियोग, मिलन, रोना, गाना, भयानक, रुट्र सब आते हैं। किसा कहनेवाले ऐतिहासिक हुए तो राजा हरिश्चन्द्रकी कहानी, गोपी-चन्द. योगी भरथरीका किस्सा, रिसया हुए तो चार यार छबीली भिठयारीका किस्सा, कहनेवाला मसखरा हुआ तो वच्च मूर्ख अहीरोंका किस्सा होने लगा, जिनमेंसे एकने ससुराल जानेके लिए माताका बतलाया नाकके सामनेका सीधा रास्ता ते करते हुए बीचमें ताड़का पेड़ देखकर ऊपर चढ़ जाना और सीधा उतरकर आगे बढ़ना तो ठीक समभा था।

कहीं कहनेवाले पुराणके ज्ञाता हुए तो सीता वनवासकी कथा, वसुदेव देवकीकी कथा या ऋषि उदालककी दातव्यता कहने लगे। जो जिस ढंगका हुआ वह उसी तरहका ऐतिहासिक वा किल्पत सुना अथवा समभाया हुआ किस्सा कहने लगता है।

उन कहानियोंमें कोई बिलकुल सचे सत्य हरिश्चंद्र, राम लच्मण

या कतल हकीकतरायकी तरह, कोई आकाश-पाताल बांधनेवाले आल्हा ऊदलके समान, कोई आसमानसें घर बनानेवाले हातिम-ताईकी तरह और कोई वीर परोपकारी नायक विजय मयकी तरह गद्य पद्य दोनोंसे होते हैं।

बालक, बड़े, बढ़े, खी, पुरुषमें इन कथाकहानियोंकी इतनी रुचि श्रीर इतना चलन क्या श्राप लोगोंको नहीं बतलाते कि हमारे देशमें पहिले उपन्यासोंसे उपदेश देनेका कितना श्रिष्ठक प्रचार था।

यह उपन्यासींकी बात हुई. श्रव नाटकींकी बात लीजिये। जहां दस लड़की कुछ छोटे, कुछ बड़े, कुछ श्रवीध, कुछ सुबीध, कुछ सुबीध, कुछ सुबीध, कुछ सची श्रकलके, कुछ पक्षी समभके जमा हुए कि जिन्होंने नाटक खेलना श्रक्ष कर दिया।

श्राप बालकीं की दुनियां में जाइये तो देखियेगा कि कोई दल बांधकर स्नानका नाटक खेल रहा है। एक चौतरे परसे कुछ बालक पांव फैलाकर स्नानकर रहे हैं, कोई नीचे उतरकर डुक्की लगाता है, कोई घोती उतारकर निचोड़ रहा है श्रीर कोई जलचारी मगर घड़ियाल बनकर उन्हें पकड़ता श्रीर घसीटता है। कोई चिल्लाकर भागता, कोई गिरता श्रीर कोई धूल पोंछकर उठता, कोई मदद करके जलचारीसे श्रपने साधीकी रह्ना करता है।

इस भीना भाषटीमें जो धका और चोट लगती है उसकी कुछ परवा न करके लड़के उड़के उठते हैं और धोती पहनकर सुखी ज़मीनमें जानेका नाट्य करते हैं। इसको लड़के 'बुडुआ-कुडुआका खेल' कहते हैं।

कहीं श्राप देखोगे कि लड़कोंने बाज़ार बसाया है, दूकानें लगी हैं, तराज़से चीजें तीली जाती हैं। चीजोंमें देखियेगा कि ठीकरोंके बताशे और मिटीके लड्डूबने है। ठीकरोंके पैसे और ठीकरों ही के तिलवे हैं। किसीने धूलका सत्तू श्रीर उसे बारीक छानकर मैदा बनाया है। ढेलाके गुड़ और कीचड़का हलुआ बनाकर ख़रीद बिक्री जारीकर दी गई है। कहीं ब्राह्मणके बालक सयाने चुए तो देखियेगा उन्होंने महत्ते भरके लड़कोंको जगाकर कर्माकाण्डका खांग रचा है। श्राप पुरोहित बनकर पैता लिये संकल्प कराते फिरते हैं। पिग्डहान दिल्णा श्रादि देते हुए यजमान उनका आज्ञापालन कर रहे है। कहीं रेलवे नाटक है तो चार छ लडके गाड़ी बनकर एक दूसरेसे हाथ मिलाये चल रहे है। सबसे आगेका लडका एन्जिन बन मुंहसे भभ भभ भभ भभ भक भक बोलता, कभी सीटी देता, कभी उच्चता, कभी सरपट दीडता है। कोई सिगनलमेन, कोई खलासी बना है, कोई घंटा बजाता है, कहीं घुड़दीड़ रची गई है तो वहां एक लड़का दूसरेको अङ्गोक्केको लगाम लगाकर दीड़ता और डरबी और सैग्ट-जेलरकी दीड करा रहा है। कोई राजा बन न्याय करता है। दारोगा साइब असामीको पकड़कर मैजिस्ट्रेटके सामने जाते हैं श्रीर कायदेसे गवाइ पेश होते हैं। द्रज़हार होते हैं, फैसला सुनाया जाता है। वेत लगाते है। यह सब बालकींका साहित्य देखकर क्या नहीं समभा जाता कि आपके लड़के आपकी वेखवरीमें कैसा नाटक खेल रहे हैं १८

लड़कोंका जो दल भेड़ वकरी बनकर बाघकी लीला करता है उसका नाटक हमने पहाड़ी जगहोंमें देखा है। रोहतासगढ़, मण्डल ग्रादि जङ्गलमय खानोंके लड़के बाघके शिकार ग्रीर हंकुग्राका नाटक किया करते हैं। नहनेना मतलव यह नि नाटक और उपन्यासींना उपयोग हमारे देशमें सदासे है और यहां सबसे अधिक या। और उसीना यह फल है नि आज भी वालक, बड़े बूढ़े, खी पुरुष सबमें उसका प्रचार है! जिन उपन्यास और नाटकींका प्रचार साहित्य-जगत्में इतना वाञ्कनीय है, जिनके समान उपदेशके लिये साहित्यमें दूसरा आधार ही नहीं समभा जाता उनकी इन दिनों हिंदी-साहित्यमें क्या दशा है?

पहले हम नाटककी बात कहते हैं। हिन्ही भाषाकों लक्कूलालजीके बाद सुंदर शृंगार देने श्रीर उसे उन्नत करनेमें जैसे हिन्ही प्रेमी, 'हिन्ही पाठक, हिंदी ग्रंथकार, हिंदी समाचार-पत्न सम्पादक श्रीर हिंदी लेखक गोलोक विहारी भारतेंदु हरिश्चंद्रका श्रान्तरिक सम्मानके साथ नाम लेते है श्रीर लेते रहेंगे वैसे हो उसमें नाटक साहित्यका दुर्दान्त श्रङ्ग पृष्ट करनेके लिये भी भारतेंदुका नाम साहित्य जगत्में सदा सुप्रकाशमान सुवर्णाचरोंसे लिखा रहेगा। भारतेंदुका यह यश जबतक सातों समुद्रमें जल रहेगा, जबतक श्राकाशमें नचत्रोंको ज्योति दीख पड़ेगी, जबतक सूर्य्यंद्रका नभमण्डलमें चक्कर लगता दिखाई देगा तबतक श्रटल श्रीर श्रनघ होकर विराजमान रहेगा।

यह बात ठीक है कि भारतेंदुके लिखनेसे पहले भी हिंदीमें कुछ नाटक बने थे किंतु उनकी गिनती अनामिकाकी पोरोंपर ही हो जाती थी।

उपन्यास भी खडास्पद मान्य भारतेंदुजीने लिखे है। नाटक श्रीर उपन्यास ही नहीं किंतु इतिहास, काव्यादि सब विषयके ग्रन्थ उन्होंने रचकर हिंदी-साहित्यकी स्खी बाटिका हरी भरी की श्रीर उन्होंके सजाय साहित्योद्यानमें श्राम हम लोग विचरण कर रहे हैं, किंतु कहनेका तात्पर्य यह कि साहित्यके श्रङ्गोंकी पुष्टि तो हिंदीके श्रीर सुलेखकोंने भी भारतेंदुजीसे पहले श्रथवा पीछे की है किंतु नाटक—जिसे नाटक कहना चाहिये— भारतेंदुजीके बाद श्राजतक कोई पन्नीस वर्षके बने हुश्रोंमें पांच भी नहीं मिलेंगे, कहते हिंदी-लेखकोंका मस्तक नीचा हो जाता है। इम श्रवसरपर श्रच्छे वुरे नाटकका नाम लेकर समालोचना करना श्रीर श्रमान्यके इस चढ़ते युगमें किसीसे बैर विसाहना हमको पसंद नहीं है। इस कारण नाटकके विषयमें हम इससे श्रागे कहना उचित नहीं समभते।

उपदेशके लिये नाटकका जितना जंचा दरजा है उपन्यासका उससे स्त भर भी नीचे नहीं है। अन्तर दोनोंमें इतना ही है कि नाटकमें सब कुछ साज सरंजाम तैयार करके ठाट बाटके साथ दर्शकोंके सामने अभिनय दिखा दिया जाता है। इस कारण अच्छे काम करनेवाले पात्रका अच्छा परिणाम और दुरे कर्मवालोंकी दुर्गति सब सामने ही देखनेका अवसर रहता है किंतु उपन्यासमें वे सब बातें नहीं होतीं, केवल बातों ही से सब घटनाओंका वर्णन करना होता है। इसी कारण नाटक दृष्य काव्य और उपन्यास अव्य काव्य कहलाता है। इस दशामें नाटक खभाव ही से कितना रोचक और चित्तपर असर करनेवाला होगा सो कहनेकी कुछ ज़रूरत नहीं है।

(जिस उपन्यासमें नाटक के समान कुछ ठाट बाट नहीं, कुछ लक दक सजावट नहीं, कुछ हाव भाव नहीं, केवल बातींसे समभाना बतलाना है उसको पाठकोंका मन त्रपनानेके लिये दो ही चीज़ें है एक भाषा दूसरी घटना।)

भाषा ऐसी चुहुलदार हो कि पढ़ित ही मन फड़क उठे और घटना इतनी मन खींचनेवाली हो कि पढ़िनेवाला उसीमें तन्मय हो जाय। यही लेखककी बहादुरी है। वेदांत और फिलासफीवाले सज्जन यहां तन्मय शब्द व्यवहारके लिये मुआफ़ करें। यहां ब्रह्मज्ञानके तन्मयसे मतलब नहीं है, न उपन्यास-लेखक सबको योगी बनानेका दावा रखते है।

उपन्यास साहित्यका बड़ा मधुर अङ्ग है। जिस जमानेका उपन्यास है वह उपन्यास उस जमानेका इतिहास है। उस समयके देशकाल और समाजका उपन्यास मानों एलबम होता है। अच्छे और उत्तम उपन्यास जिस ज़मानेमें बनते हैं उस समयकी भीतरी बाहरी गुप्तसे गुप्त और प्रकट सब बातें उसमें मौजूद रहती हैं।

भारतेंदु इरिश्चंद्र

[राय वहादुर वाबू खामसुन्टरहास (स॰ १८३२ वि॰—वर्षं मान)—ये वहुत दिनीतक काशो विद्यविद्यालयमें हिन्ही विभागके अध्यद्य थे। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभाकी सस्यापनामें इन्होंका विशेष हाय था। इन्होंके सम्पादकलमें 'वैज्ञानिक कोश' श्रीर 'हिन्ही-शळसागर' हो महत्त्वपूर्ण कोश निकले हैं। इनके 'साहित्यालीचन' श्रीर 'हिन्ही भाषा श्रीर साहित्य' नामक यत्य बहुत प्रसिद्ध हैं। भारतेषु हरियद्रपर तथा गीम्नामी तुलसीदासपर इन्होंने को आलीचनाए' लिखी है उनका साहित्यमें विशेष स्थान है। हिन्ही भाषापर इन्होंने बहुतसे निवन्य लिखे हैं श्रीर वे सभी प्रामाणिक माने जाते हैं। इनकी भाषामें तत्सन शब्दोकी श्रिकता गहनेपर भी उसमें किष्टता नहीं श्राने पाती। स्त्रा वातोंको भी सीधे-सादे हगसे श्रीर त्यष्ट कपसे समक्षा देनेमे ये सिद्धहस हैं। इनकी भाषा श्रपने हगसी होती है।]

÷ × *

भारतवर्षमें जव श्रंगरेजींके पैर जम गए तब उन्हें अपने शासनको सुचार रूपसे चलानेकी चिंता हुई। उन्होंने भारतवर्षको भारतीय सिपाहियोंको सहायतासे जीता था। श्रव शासन भी भारतीयोंको सहायतासे चलने लगा, पर शासनको ठीक ठीक चलानेके लिये शासक श्रीर शासितमें परस्पर व्यवहारको श्रावश्यकता होती है श्रीर यह व्यवहार केवल भाषाके हारा संपन्न हो सकता है। श्रतएव यह श्रावश्यक हुआ कि शासक शासितको भाषाका ज्ञान प्राप्त करें श्रीर शासित शासकको भाषाका। इस पारस्यरिक व्यवहार-विनिमयके लिये ऐसे विद्यालयोंके स्थापनकी श्रावश्यकता हुई जहां श्रंगरेजींको भारतीय भाषाएं सिखाई जायं। साथ ही ऐसा यायोजन भी यनिवार्य या, यनिवार्य ही नहीं वरन् परम यावश्यक या, जिससे भारतीयोंको यंगरेजी भाषाका ज्ञान प्राप्त कराया जाय। इस यन्योन्यायित व्यापारकी यावश्यकतामें मात्राका भेद रहा। यासकोंके लिये भारतीय भाषायोंका व्यावहारिक ज्ञान, उतना यावश्यक नहीं या जितना यासितोंके लिये, क्योंकि यासितोंको यपनी भाषाका ज्ञान प्राप्त कराके वे उनके द्वारा सुगमतासे यपना काम चला सकते थे। इस स्थितिमें पहले तो फोर्ट विलियम कालेजमें ऐसा प्रबंध किया गया कि इंगलैंडसे याए हुए नवयुवक यासकोंको भारतीय भाषायोंकी यिचा दी जाय, पर पीछसे इसकी तादृश यावश्यकता न समभी गई और यह कालेज बंदकर दिया गया। पहले चाहे जिस भावसे प्रेरित होकर यह कालेज खोला गया और फिर बंद कर दिया गया हो, पर इसने हिंदी साहित्यका रूप ही बदल दिया।

अंगरेजोंका यह नियम है कि वे पहले यह निश्चय कर खेते हैं कि कीन कीन सी बातें हमारे लिये आवश्वक और उपयोगी हैं और तब वे उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नवान् हो जाते हैं। हमारी हिंदी भाषाका साहित्य अवतक प्रायः पद्यमय था, गद्य तो उसमें नाममात्रको था। पद्यके हारा पारस्परिक व्यवहार कभी चल नहीं सकता। यद्यपि सब देशोंके साहित्यमें पहले पद्यका ही आविभीव होता है, पर साथ ही परस्पर भाव-विनिमयके लिये गद्यका भी प्रयोग होता है। हिंदीमें भी साहित्यका आरंभ पद्य-रचनासे हुआ है और इसके लिये ब्रजभाषाका ही विशेष प्रयोग हुआ है, पर भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और प्राचीन समयमें देशके भिन्न भागोंके रहनेवालोंके आने-जाने तथा मिलने-जुलनेके

साधन सुगम न होनेके कारण भाव-विनिमयके लिये अनेक प्रांतिक भाषाओं तथा उपभाषाओंका खंडराज्य था। इस अवस्थामें जब अंगरेजोंको शासकों और शासितोंके बीच परस्पर व्यवहार स्थापित करनेकी आवश्यकता हुई, तब वे इस कामके लिये भिन्न भिन्न उपभाषाओं तथा बोलियोंमें से किसी एकको नहीं चुन सकते थे। इस कामके लिये उन्होंने मुख्य मुख्य प्रांतीय भाषाओंको चुना जिनमें हिंदी भी एक थी। पर हिंदीमें गद्य-ग्रंथ तो थे ही नहीं, इसलिए वे इन ग्रंथोंके निर्माणकी और दत्तचित्त हुए। इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेजमें लक्षूजीलाल, सदल मित्र आदि पंडितोंको यह काम सीपा गया और उन्होंने सफलतापूर्वक इसे संपन्न किया। इन घटनाओंके वश्रवर्ती होकर हिंदी गद्यकी नींव टढ़तापूर्वक रखी गई।

यव इस बातका विचार आरंभ हुआ कि भारतवासियोंको किस
प्रकारकी शिचा दी जाय और वह भी किस भाषाके द्वारा हो।
वहुत वाद-विवाद तथा सोचिवचारके अनंतर अंगरेजी भाषा द्वारा
पायाच्य विद्याओंकी शिचा देना नियित हुआ और उसके अनुसार
भारतवर्षके भिन्न भिन्न स्थानोंमें इसका प्रबंध होने लगा। इस
कार्यको इंगलैंडवासी कितना आवश्यक और उपयोगी समभते थे,
इसका अनुमान एक इसी बातसे कर लेना चाहिए कि संवत् १८१४ में,
जब कि सिपाही-विद्रोह भयानक रूप धारण किये हुए था, पहला
विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। तबसे लेकर आजतक शिचाका
कार्य बराबर चला आ रहा है।

* * *

संसारमें जब जब महत्त्वने परिवर्तन होनेको होते हैं, तब तब जनको सिद्ध करनेके लिये विशेष शक्ति-संपन्न शालाश्रोंका श्राविर्धाव होता है। * * * भारतेंदु इिस्बंद्रने हिंदी भाषामें नई संजीवनी शिक्तवा संचार कर उसे इस योग्य बना दिया कि वह जातीय विकासकी सहायक होकर भारतवासियोंकी मादभाषाके उपयुक्त गौरवको प्राप्त करनेमें समर्थ हुई।

* * * * *

"भारतेंदु हिर्स्चंद्रको समयसे हिंदी साहित्यका नया युग त्रारंभ होता है। इन्होंने जिस अवस्थामें हिंदीको पाया वह विखचण थी। पद्ममें जायसी, स्र, तुलसी आदिके आख्यान-काव्योंका समय एक प्रकारसे बीत चुका था। केशवके चलाए हुए नायिकामेद, रस, अलंकार आदिको लच्च करती हुई स्मुट कविताओं के छींटे उड़ रहे थे। गद्य प्रेमसागर, सिंहासन-बत्तीसी और बैताल-पचीसीसे ही संतोष किए बैठा था।

"यद्यपि देशमें नए नए क्षावोंका संचार हो गया था, पर हिंदी भाषा उनसे दूर थी। लोगोंकी अभिकृष्टि बदल चली थी, पर हमारे साहित्यपर उसका प्रभाव नहीं पड़ा था। शिचित लोगोंकी विचारों और व्यापारींने दूसरा मार्ग तो पकड़ लिया था, पर उनका साहित्य उसी पुराने मार्गपर था। ये लोग समयके साथ खयं तो कुछ आगे बढ़ आए थे, पर जल्दीमें अपने साहित्यको साथ न ले सके। उसका साथ छूट गया और वह उनके कार्यचेचसे अलग पड़ गया। प्रायः सभी सभ्य जातियोंका साहित्य विचारों और व्यापारोंसे लगा हुआ चलता है। यह नहीं कि उनकी चिंताओं और कार्योंका प्रवाह तो एक और हो और उनके साहित्यका प्रवाह दूसरी और। पिर यह विचित्र घटना यहां कैसे हुई ? बात यह है कि जिन लोगोंके हृद्यमें नई शिह्राके प्रभावसे नए विचार उत्पन्न हो चले थे, जो

त्रापनी श्रांखोंसे देश-कालका परिवर्तन देख रहे थे, उनमें श्रिषकांश्र तो ऐसे थे जिनका कई कारणोंसे हिंदी साहित्यसे लगाव छूट सा गया था, श्रीर शेष ऐसे थे जिन्हें हिंदी साहित्यका मंडल बहुत ही वह श्रीर परिमित दिखाई देता था, जिन्हें नए विचारोंको सिन्नविष्ट करनेके लिये स्थान ही नहीं सुस्तता था। उस समय एक ऐसे साहसी श्रीर प्रतिमा-संपन्न पुरुषकी श्रावश्यकता थी जो कौशलसे इन बढ़ते हुए विचारोंका मेल देशके परंपरागत साहित्यसे करा देता। वावू हरिश्चंद्रका प्रादुर्भाव ठीक ऐसे ही समयमें हुशा श्रीर वे यह कार्य करनेमें समर्थ हुए।"*

भारतेंदुजीकी साहित्य-सेवा-रूपी सरिता अनेक धाराओं में प्रवाहित हुई थी। नाटक, आख्यान, काव्य, स्तोव, परिहास, हितहास, माहालप्र इत्यादि भिन्न भिन्न विषयोपर इनकी लेखनी परिचालित हुई थी। साधारणतः हम इनकी रचनाओं को दी मुख्य भागों में विभन्न कर सकते है—पद्यात्मक रचनाएं और गद्यात्मक रचनाएं। इन दोनों प्रकारकी रचनाओं में हम समान रूपसे एक व्यापक भाव पाते हैं। चाहे जैसा अवसर हो और चाहे जिस प्रकारकी रचनाकी आवश्यकता हो, भारतें दुजी अपने देशको नहीं भूलते, घूम फिरकर इन्हें उसके पूर्व गीरव, वर्तमान हीन अवस्था और भविष्यका ध्यान आ ही जाता हैं और ये तक्षं वंधी अपने हृदयोहारों को रोक नहीं सकते।

× * * * *

सारांश यह कि भारतेंदु हरिश्चंद्रके हृदयमें सब अवसरीं, सब अवस्थाओं और सब कालोंपर अपने देशकी स्मृति जाग्रत हो उठती थी

^{*} नागरीप्रचारिगी पितका, भाग १४, संख्या १०।

श्रीर वे उसीकी भलाईकी कामना निरंतर करते रहते थे। इसी देशभिक्तिके भावसे प्रेरित होकर वे सब कार्योमें प्रवृत्त होते थे। यह उनका जीवन-व्यापी भाव श्रीर ध्येय था। हमारी समभमें भारतें दुजीकी इतनी महत्ता इसिलये नहीं मानी जानी चाहिए कि वे उच्च कोटिके किव, हिंदीको नया जीवन तथा खरूप देनेवाले श्रादरणीय गया-लेखक, श्रथवा नाव्यसाहित्यकी नीव रखनेवाले नाव्यकार थे, जितनी इस बातके लिये मानी जानी चाहिए कि वे भारतभूमिकी हित-चिंतामें निरत रहकर उसके श्रभ्युदयकी सदा कामना करनेवाले, श्रपने सब कामोंमें उसी श्रादर्शको सामने रखकर कार्यचेत्रमें श्रवतीर्ण होनेवाले श्रीर उसकी सिद्धिके लिये श्रपने श्रापको तथा श्रपना सर्वस्व उसके लिये निकावर कर देनेवाले थे। देशहितैषिता ही उनका मुख्य प्रेरक भाव था, श्रीर सब बातें गीण तथा उसी मुख्य भावकी पुष्टिके लिये थीं।

भारतेंदुजोने ३४ वर्ष श्रीर ४ महीनेकी श्रायु पाई श्रीर १६ वर्षकी श्रायुमें उनके सार्वजनिक जीवनका श्रारंभ हुशा। इस हिसाबसे वे लगभग १८ वर्षतक श्रपने देशकी सेवा तथा श्रपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिये कार्य कर सके। इस श्रल्प काल ही में उन्होंने जो कुछ कर दिखाया वह उनकी स्मृतिको सदा बनाए रखनेके लिये श्रावश्यकतासे श्रधिक है। उत्तर भारत पाश्राच्य सभ्यता श्रीर पाश्राच्य श्रिचाके प्रवाहमें वह चला या, उसमें यह इतना निमग्न हो चला था कि उसे श्रपने वास्तविक रूपका ज्ञान हो न रह गया था। इस प्रवाहमें उसका पुराना साहित्य पौछे छूट गया था श्रीर एक प्रकारसे देशकी साधारण स्थितिसे उसका संपर्क कम होता जाता था तथा उसकी भाषा नए नए भावों श्रीर विचारोंको

प्रकट करनेमें असमर्थ हो रही थी। ऐसी स्थितिमें साहित्यकी प्रवाहको देश-कालके अनुकूल वहाकर तथा भाषाको नया रूप देकर अपने देशकी, अपने साहित्यकी और अपनी भाषाकी उन्होंने रचा कर ली। यद्यपि भारतेंदुजीकी साहित्यिक सेवा अमूल्य थी पर उनका महत्त्व उसके कारण इतना नहीं है जितना हिंदी भाषाको संजीवनी शक्ति देकर उसे देश-कालके अनुकूल सामर्थ-युक्त बनाने और देश-हितैषिताके भावोंको अपने देशवासियोंके द्वदयोंमें उत्पन्न करनेमें था। लज्जूजीलालने जिस भाषाको नया रूप दिया, लच्मणसिंहने जिसे सुधारा, उसको परिमार्जित श्रीर सुंदर सांचेमें ढालनेका खेय भारतेंदुजीको प्राप्त है। उनके समयमें भी इस बातका भगडा चल रहा था कि हिंदी उर्दू-मिश्रित हो या नहीं। राजा शिवप्रसादजी उटू -िमिश्वत भाषाके पचपाती श्रीर उर्दू शैलीके पृष्ठपोषक थे। भारतेंदुजीने इसके विरुद्ध शुद्ध हिंदीका पच लिया श्रीर उसको नए सांचेमें ढालकर एक नवीन शैलीकी स्थापना की। उनकी भाषामें माधुर्य गुणकी प्रचुरता है तथा वह प्रीढ़ता और परिमार्जिततासे संपन्न है। उन्होंने खयं लिखा है कि 'हरिश्वंद्र मैगजीन'ने उदयने साथ संवत् १८३०में हिंदी नए सांचेमें ढली।

भारतेंदुजीके जीवनका उद्देश्य अपने देशकी उन्नतिके मार्गको साफ सुथरा श्रीर लंबा चौड़ा बनाना था। उन्होंने इसके कांटों श्रीर कंकड़ोंको दूर किया, उसके दोनों श्रोर सुंदर सुंदर क्यारियां बनाकर उनमें मनोरम फल-फूलोंके वृच्च लगाए। इस प्रकार उसे ऐसा सुरस्य बना दिया कि भारतवासी उसपर श्रानंद-पूर्वक चलकर श्रपनी उन्नतिके इष्ट स्थानपर

पहुंच सकें। यद्यपि भारतेंदुजी अपने लगाए हुए बच्चोंको फल-फूलोंसे लदा न देख सके, फिर भी हमको यह कहनेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं होता कि वे अपने जीवनके उद्देश्यमें पूर्णतया सफल इए। हिंदी भाषा और साहित्यकी जो उन्नित ग्राज देख पड़ रही है उसके सूल कारण भारतेंदुजी हैं श्रीर उन्हें ही इस उन्नतिको बीजको आरोपित करनेका श्रेय प्राप्त है। यदि वे उसकी भावी उन्नतिका मार्ग परिष्कृत न करते, उसे सुरस्य न बनाते, तो श्रबतक उसका श्रस्तित्व ही लुप्त हो जाता श्रीर साथ ही देशके रूप-रंगमें ऐसा परिवर्तन हो जाता कि वह कठिनतासे पहचाना जा सकता। उन्होंने श्रपने अध्यवंसायसे, अपने खार्थत्यागसे, अपनी प्रतिभासे, अपनी देश-हितैषितासे, अपने सर्वस्वको आहुति देकर उसे स्थायी रूप दे दिया .श्रीर उसे श्रंधकूपमें गिरनेसे बचा लिया। इस भारतीय श्राकाशके चंद्रमाको अस्त सुए आज ४२ वर्ष हो चुके पर उसकी यश-चंद्रिका च्यों की त्यों चारों और अबतक क्रिटक रही है और जबतक इस भारतभूमिमें हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य श्रीर हिंदी-भाषा-भाषियोंका नाम रहेगा तबतक यह चंद्रिका भी नित्य नई क्रिटककर भारतीय इतिहासको उज्ज्वल हिंदी-साहित्य-सेवियोंके मार्गको प्रकाशित कर छन्हें छत्साहित करती रहेगी।

भगवान् श्रीक्षणा

[प॰ पग्नसिंह शर्मा (संवत् १८३३-१८८८ वि॰)—ये वर्ड ही उत्क्रष्ट विद्वान् थे। सुलेखक होनेके साथ साथ ऐसे धुरस्यर विद्वान् देखनेमें नहीं आते। हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी दन सभी साहित्यों के अच्छे जाता थे। भाषा दनकी वर्डी फडकती हुई होती थी। इनकी हिन्दी और उर्दू लेखनकलाका सौन्दर्थ अपना सानी नहीं रखता। इनके लेखोंसे इनकी विद्वा तथा गभीर अध्ययनका परिचय मिलता है। हिन्दीमें इनकी एक अपनी शैली थी निसमें प्रवाह है, चचलता है और उसके साथ ही गामीर्थ है। इनकी लिखी समालीचनाएं तीव्र तथा विद्वापूर्य होती थी। 'पन्नपराग', 'प्रवस्य-मंजरी' आदि इनकी सभी पुलके उच्च कोटिकी है। 'सतसई-संहार' लिखनेके कारण तो हिन्दी संसारमें ये असर हो रहे हैं। ये एक प्रतिष्ठित साहित्यसेवी थे।]

पांच इज़ार वष वीत भगवान् श्रीक्षण्यन्द्र श्रानन्दकन्द इस धराधामपर श्रवतीर्ण हुए थे। जन्माष्टमीका श्रम पर्व प्रतिवर्ष हमें इस चिरस्मरणीय घटनाकी याद दिलाता है। श्रार्यजाति बड़ी श्रद्धा मित्तसे इस परमपावन पर्वको मनाती है। विश्वकी उस श्रतीकिक विभूतिके गुण-कीर्तनसे करोड़ों श्रार्यजन श्रपने हृदयोंको पवित्र बनाते हैं। श्रपनी वर्तमान श्रधोगितिमें, निराशाके इस भयानक श्रन्थकारमें, उस दिव्य ज्योतिको ध्यानको दृष्टिसे देखकर सन्तोष लाभ करते है। श्राज दुःखदावानलसे दग्ध मारतमूमि घनध्यामको श्रम्यत-वर्षाको बाट जोहती है। दुःशासन-निपीड़ित प्रजा द्रीपदी रचाके लिये कातर खरमें प्रकारती है। धर्म श्रपनी दुर्गितिपर सिर धनता हुशा 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवित'को याद दिलाकर प्रतिज्ञामंगको 'नालिश' कर रहा है। जाति-जननी

अत्याचार-कंसंके कष्ट-कारागारमें पड़ी दिन काट रही है, गीएं अपने 'गोपाल'की यादमें प्राण दे रही हैं, जान गंवा रही हैं। (इस प्रकार भगवान्के जन्मदिनका ग्राभ श्रवसर भी हमें श्रपनी मौतका मर्सिया ही सुनानेको मजबूर कर रहा है, आनन्द बधाईके दिन भी इस अपना ही दुखड़ा रो रहे हैं, विधिकी विड़खनासे 'प्रभाती'के समय 'विद्वाग' श्रलापना पड़ रहा है।) संसारकी अनेक जातियां चुद्र श्रीर बहुधा कल्पित श्रादशीं के सहारे उन्नतिके शिखरपर श्रारूढ़ हो गई हैं श्रीर हो रही हैं। (उत्तम श्रादर्श जनतिका प्रधान अवलम्ब है। अवनतिकी गर्तमें पतित जातिके लिये तो आदर्भ ही उदार-रज्जु है। आर्यजातिके लिये आदर्भी का अभाव नहीं है। सब प्रकारके एकसे एक बढ़कर आदर्श सामने हैं। संसारकी अन्य किसी जातिने इतने आदर्श नहीं पाये, फिर भी-इतने महत्त्वशाली आदर्श पाकर भी-आर्यजाति क्यों नहीं उठती! यही नहीं, कभी कभी तो 'श्रादर्शवाट' ही दुर्दशाका कारण बन जाता है।

भगवान् श्रीक्षण संसारभरके श्रादर्शों में सर्वाङ्गसम्पूर्ण श्रादर्श हैं। इसी कारण हिन्दू उन्हें सोलह कला सम्पूर्ण श्रवतार—'क्षणसु भगवान् खयम्' मानते हैं। श्रवतार न माननेवाले भी उन्हें श्रादर्श 'योगिराज', 'कर्मयोगी' सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कहते हैं। मनुष्य-जीवनको सार्थक बनानेके लिये जो श्रादर्श श्रपेचित है वह सब सप्ट रूपमें प्रचुर परिमाणमें श्रीक्षणाचिरतमें विद्यमान है। ध्यानी, ज्ञानी, योगी, कर्मयोगी, नीति-धरन्धर नेता श्रीर महार्थी योद्या, जिस दृष्टिसे देखिये, जिस कसीटीपर किसये, श्रीक्षण श्रितीय ही प्रतीत होंगे। संस्कृत भाषाका साहित्य क्षणाचिरतकी महिमासे

भरा पड़ा है। पर दुर्भाग्यसे हम उसके तत्त्वकों हृदयङ्गम नहीं करते। हम 'श्रादर्श'का श्रनुकरण करना नहीं चाहते, छलटा उसे अपने पीछे घसीटना चाहते हैं श्रीर यही हमारी अधोगतिका कारण है। यदि हम कर्मयोगी भगवान् कृष्णके श्रादर्शका श्रनुसरण करते तो श्राज इस दयनीय दशामें न होते। महाभारतके श्रीकृष्णको भूलकर 'गीत-गोविन्द'के कृष्णका काल्पनिक चित्र निर्माण करके उस श्रादर्श महापुरुषको 'चौरजारिशखामणिः'को उपाधि दे डाली है। पतनको पराकाष्ठा है। कृष्णचरित्रके सर्वश्रेष्ठ लेखक श्रीबंकिमचन्द्रने एक जगह खिन्न होकर लिखा है—

"जबसे इस हिंदू अपने आदर्शको भूल गये और इसने क्षणाचित्रको अवनत कर लिया तबसे इसारी सामाजिक अवनित होने लगी, जयदेव (गीत-गोविन्द-निर्माता)के क्षणाकी नक्ल करनेमें सब लग गये पर 'महाभारत'के क्षणाकी कोई याद भी नहीं करता है।"

श्रीकष्णको हिन्दूजाति क्या समभ बैठी है, इसका उन्नेख श्रीबिङ्गमने इस प्रकार किया है—

"पर अब प्रश्न यह है कि भगवान्को हम लोग क्या समभते है। यही कि वह बचपनमें चोर थे, दूध दही मक्लन चुराकर खाया करते थे। युवावस्थामें व्यभिचारी थे और प्रीढ़ावस्थामें बंचक और शठ थे। उन्होंने धोखा देकर द्रोणादिके प्राण लिये। क्या इसीका नाम मानव-चरित्र है ? जो केवल शुद्धसत्त्व है, जिससे सब प्रकारकी शुद्धियां होती हैं और पाप दूर होते हैं, उसका मनुष्य देह धारण कर समस्त पापाचरण करना क्या भगवचरित्र है ?"

"सनातन-धर्मदेषी कहा करते हैं कि भगवचरित्रकी ऐसी कल्पना करनेकी कारण ही भारतवर्षमें पापका स्रोत बढ़ गया है। इसका प्रतिवाद कर किसीको कभी जय प्राप्त करते नहीं देखा है। मैं (बंकिसचन्द्र) श्रीकषाको स्वयं भगवान् मानता ह्रं श्रीर उनपर विम्बास करता हं। ग्रंगेजी शिचासे मेरा यह विम्बास श्रीर दृढ़ हो गया है, पुराणीं श्रीर इतिहासमें भगवान् श्रीलण्यचन्द्रके चरित्रका वास्तवमें कैसा वर्णन है यह जाननेके लिये मैंने जहांतक वना दतिहास श्रीर पुराणीं का मत्यन किया; दसका फल यह इया कि श्रीक्षणचन्द्रके विषयमें जो पाप-कथाएं प्रचलित हैं वह अमूलक जान पड़ीं। उपन्यासकारोंने श्रीक्षणाके विषयमें जो मनगढ़न्त बातें लिखी हैं उन्हें निकाल देनेपर जो कुछ बचता है वह स्थिति विश्व है, परम पवित्र, अतिशय भहान् मालूम हुआ है। मुक्ते यह भी मालूम हो गया है कि ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्वपापरहित आदर्भ चरित श्रीर कहीं नहीं है। न किसी देशके इतिहासमें श्रीर न किसी काव्यमें।"

श्रीक्षण-चिरतका धनन करनेवालोंको श्रीकंकिमचन्द्रकी उत्त सम्मितियोंपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। भगवान् श्रीक्षणके चिरित्रके रहस्थको श्रच्छी तरह समभक्षर उसके श्राधारपर यदि हम श्रपने जाति-जीवनका निर्माण करें तो सारे संकट दूर हो जायं। उदाहरणके तीरपर देखिए कि—

महाभारतके युद्धकी पूरी तथ्यारियां हो चुकी हैं, सन्धिके सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं, धर्मराज युधिष्ठिरका सदय हृदय युद्धके ग्रवश्यकावी दुष्परिणामको सोचकर विचलित हो रहा है, इस दशामें भी वह सन्धिके लिये व्याकुल है, बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है, श्रीक्षण खयं सिक्षके पचिमें थे। सिक्षके प्रस्तावको लेकर उन्होंने खयं ही दूत बनकर जाना उचित समभा। दुर्योधन जैसे खार्थान्य कपट-कुणल श्रीर 'जीते जुश्रारीके' दरबारमें ऐसे श्रवसरपर दूत बनकर जाना, जानसे हाथ धोना, दहकती हुई श्रागमें लूदना था। श्रीक्षणके दूत बनकर जानेके प्रस्तावपर सहसा कोई सहमत न हुश्रा। दुर्योधनकी कुटिलता श्रीर क्रूरताके विचारसे श्रीक्षणका वहां जाना किसीने उचित न समभा, इसपर खूब वादिववाद हुश्रा। उद्योग-पर्वका वह प्रकरण 'भगवद्यान-पर्व' बड़ा श्रद्धभुत श्रीर हृदयहारी है, जिसमें भगवान् श्रीक्षणके सिक्षप्रस्तावको लेकर जानेका वर्णन है। श्रीक्षण जानते थे कि सिक्षित्र प्रस्तावमें सफलता न होगी, दुर्योधन किसीको माननेवाला जीव नहीं है। याद्रा श्रापज्जनक है, प्राणसंकटकी सन्धावना है, पर कर्तव्यानुरोधसे जानपर खिलकर भी उन्होंने वहां जाना ही उचित समभा।

दुर्योधनको जब सालूस हुआ कि श्रीक्षण आ रहे हैं तो उसने श्रीक्षणको साम, दान, दण्ड, भेद द्वारा जालमें फंसानेका कोई उपाय उठा न रक्खा। मार्गमें जगह जगह उनके खागतका धूमधामसे प्रबन्ध किया गया। रास्तेकी सडकें खूब सजाई गईं। दुर्योधन जानता या कि सब कुछ श्रीक्षणके हाथमें है, जो वह चाहेंगे वही होगा, उनकी आज्ञासे पाण्डव अपना सर्वस्व त्याग कर सकते है, श्रीक्षणको काबूमें कर लिया जाय तो बिना युद्धके ही विजय हो सकती है, श्रीक्षणको बलब्तेपर ही पाण्डव युद्धके लिये समझ हो रहे हैं। निदान दुर्योधनने श्रीक्षणको फंसानेकी प्राण्पणसे चेष्टा की। पर 'श्रचुत' श्रीक्षण अपने लच्चसे कव चूकनेवाले थे। सन्धिका प्रस्ताव स्तीक्षत न हुआ। दुर्योधन, कर्ण, शकुनि आदि

श्रपने साथियोंके साथ सभासे उठकर चले गये। जब उसने साम, दानसे काम बनते न देखा तो श्रावध्यक दग्ड देने-कैद कर लेनेका षड्यन्त रचा, उन्हें श्रपने घरपर निमन्त्रित किया। दुर्योधनकी इस दुरिभसिक्षको विदुर आदि दूरदर्शी ताड़ गये, उन्होंने श्रीक्षणाको वहां जानेसे रोका। श्रीक्षणा स्वयं भी सब कुछ समभते थे, पर वह जिस कामको श्राये थे उसके लिये एक बार फिर प्राणपणसे प्रयत्न करना ही उन्होंने उचित समभा, वह दुर्यीधनके घर पहुंचे, श्रीर निभेयतापूर्वेक सन्धिका श्रीचित्य समभाया। पाण्डवोंकी निर्दीषता और दुर्योधनका अन्याय प्रमाणित किया, पर दुर्यीधन किसी तरह न माना। श्रीक्षण उसे फटकारकर चलने लगे, दुर्योधनने भोजनके लिये आग्रह किया, इसपर जो उचित उत्तर भगवान् श्रीक्षणाने दिया वह उन्हींने योग्य था। नहा नि या तो प्रीतिके कारण किसीके यहां भोजन किया जाता है, या फिर विपत्तिमें—दुर्भिचादि संकटमें। तुम हमसे प्रेम नहीं करते श्रीर हमपर कोई ऐसी आपत्ति नहीं आई है, ऐसी दशामें तुन्हारा भोजन कैसे स्वीकार करें? इस प्रत्याख्यानसे कुइ होकर दुर्यीधनने उन्हें विरवार पकड़ना चाहा, पर भगवान् श्रीक्षणाकी श्रालीकिक तेज श्रीर दिव्य पराक्रमने उसे परास्त कर दिया, वह अपनी धष्टतापर लिजत होकर रह गया।

पाण्डव और कीरव दोनों ही श्रीक्षण के सम्बन्धी थे, दोनों हो उन्हें अपने पद्ममें लाने किए समान रूपसे प्रयत्न-शील थे। 'लोक-संग्रह' के तत्त्वसे भी भगवान् अनिभन्न न थे, पर उन्होंने 'सर्व-प्रियता' या हरिदल-अज़ी ज़ी में फंसकर अपने करारेपनको दाग नहीं लगाया। मेल सिलापकी मोहमायामें भूलकर न्यायको अन्याय और धर्मको

अधर्म नहीं बताया। निरपराधको अपराधी बताकर अपनी 'समदर्शिता' या 'उदारता'का परिचय नहीं दिया। श्रीक्षण अपने प्राणींका मोह छोड़कर दुर्यीधनको समभाने गये और भयानक संकटके भयसे भी कर्तव्यपराङ्मुख न हुए।

श्रार्यजातिके लीडर श्रीर शिचित युवक श्रीक्षणचरितको श्रेपना श्रादर्श मानकर यदि श्रपने चरित्रका निर्माण करें तो देश श्रीर जातिका उदार करनेमें समर्थ हो सकेंगे। परमात्मा ऐसा ही करे।

सज्जनताका दग्ड

[श्रीप्रेमचन्द (चंवत् १८२०-१८८३ वि०) — सुन्थी धनपतराय छपेने स् प्रेमचन्द्री प्रसिद्धी प्रसिद्धी प्रसिद्धी प्रसिद्धी प्रसिद्धी प्रसिद्धी प्रमिद्धी प्रसिद्धी प्रमिद्धी प्रसिद्धी प्रमिद्धी प्रमिद

१

(साधारण मनुष्योंकी तरह शाहजहांपुरके डिस्ट्रिक इ'जीनियर सरदार शिवसिंहमें भी भलाइयां श्रीर बुराइयां दोनों ही वर्तमान

थीं। भलाई यह थी कि उनके यहां न्याय ग्रीर दयामें कोई ग्रन्तर न था। बुराई यह थी कि वे सर्वथा निर्लोभ ग्रीर नि:स्वार्थ थे। भलाईने मातहतोंको निष्ठर श्रीर ग्रालसी बना दिया था, बुराईके कारण उस विभागके सभी अधिकारी उनकी जानके दुश्मन बन गये थे।

प्रातः कालका समय था। वे किसी पुलकी निगरानीके लिये तैयार खंडे थे। मगर साईस अभीतक मीठी नींद सो रहा था। रातको उसे अच्छी तरह सहेज दिया गया था कि पी फटनेके पहले गाड़ी तैयार कर लेना। लेकिन सुबह भी हुई, सूर्थ्य भगवानने दर्शन भी दिये, शीतल किरणोंमें गरमी भी आई, पर साईसकी नींद अभीतक नहीं ट्टी।

सरदार साइव खड़े खड़े थककर एक कुर्सीपर बैठ गये। साईस तो किसी तरइ जागा। परन्तु अर्दनीके चपरासियोंका पता नहीं। जो महाश्य डाक लेने गये वे एक ठाकुरहारेमें खड़े चरणास्तकी प्रतीचा कर रहे थे। जो ठेकेदारको वुलाने गये थे वे बाबा रामदासकी सेवामें बैठ गांजेका दम लगा रहे थे।

धूप तेज होती जाती थी। सरदार साहब भुंभलाकर मकानमें चले गये और अपनी पत्नीसे बोले, "इतना दिन चढ़ आया अभीतक एक चपरासीका भी पता नहीं। मेरा तो इनके मारे नाकमें दम आ गया।"

पत्नीने दीवारकी और देखकर दीवारसे कहा, "यह सब उन्हें सिर चढानेका फल है।"

सरदार साहब चिढ़कार बोले, "तो क्या करूं, उन्हें फांसी दे दूं?"

3

सरदार साइबके पास मोटरकारका तो कइना ही क्या. कोई फिटिन भी न थी। वे अपने इक्केसे ही प्रसन्न थे, जिसे उनके नौकर-चाकर अपनी भाषामें उडनखटोला कहते थे। शहरके लोग इसे इतना श्रादर-सूचक नाम न देकर छकड़ा कहना ही उचित समभते घे। इसी तरह सरदार साहब अन्य व्यवहारींमें भी बड़े मितव्ययो थे। उनके दो भाई इलाहाबादमें पढते थे। विधवा माता बनारसमें रहती थीं। एक विधवा बहिन भी उन्हींपर अवलम्वित थी। इसके सिवा कई गरीब लड़कोंको वे छात्रवृत्तियां भी देते थे। दन्हीं कारणोंसे वे सदा खाली हाथ रहते थे। यहांतक कि उनके कपडोंपर भी इस आर्थिक दशाके चिक्न दिखाई देते थे। लेकिन यह सब कष्ट सहकर भी वे लोभको अपने पास न फटकाने देते थे। जिन लोगोंपर उनका स्नेष्ट था वे उनकी सज्जनताको सराहते थे श्रीर उन्हें देवता समभते थे। उनकी सज्जनतासे उन्हें कोई हानि न होती थी। (लेकिन जिन लोगोंसे उनकी व्यावसायिक सम्बन्ध थे वे उनके सद्भावींके ग्राह्क न थे, क्योंकि उन्हें हानि होती थी।) यहांतक कि उन्हें अपनी सहधर्मिणीस भी कभी-कभी अप्रिय बातें सुननी पड़ती श्रीं।

एक दिन वे दफ़रसे आये तो उनकी पत्नीने स्नेहपूर्ण ढंगसे कहा, "तुन्हारी यह सज्जनता किस कामकी, जब सारा संसार तुमको बुरा कह रहा है ?"

सरदार साइवने टढ़तासे जवाब दिया, "संसार जो चाई कही। परमात्मा तो देखता है,"

रामाने यह जबाब पहले ही सोच लिया था। वह बोली, "मैं

तुमसे विवाद तो करती नहीं। सगर जरा अपने दिलमें विचार करके देखो कि तुम्हारी इस सचाईका दूसरोंपर क्या असर पड़ता है। तुम तो अच्छा बेतन पाते हो। तुम अगर हाथ न बढ़ाओं तो तुम्हारा निर्वाह हो सकता है। रूखी रोटियां सिल हो जायंगी। सगर ये दस-दस पांच-पांच रूपयेके चपरासी, मुहरिर, दफ़री बेचारे कैसे गुजर करें। उनके भी बाल-बच्चे हैं। उनके भी कुटुख-परिवार है। शादी-गमी, तिथि-त्यीहार यह सब उनके साथ लगे हुए हैं। भलमनसीका भेस बनाये बिना काम नहीं चलता। बताओ, उनका गुजर कैसे हो? अभी रामदीन चपरासीकी घरवाली आई थी, रोते आंचल भींगता था। लड़की स्थानी हो गयी है। अबके उसका व्याह करना पड़ेगा। ब्राह्मणकी जाति—हजारोंका खर्च। बताओं उसके आंस् किसके सिर पड़ेंगे?"

ये सब बातें सच थों। इससे सरदार साइबको इनकार नहीं हो सकता था। उन्होंने खयं इस विषयमें बहुत कुछ बिचार किया था। यही कारण था कि वह अपने मातहतोंके साथ बड़ी नरमीका व्यवहार करते थे। लेकिन सरलता और शालीनताका आसिक गौरव चाहे जो हो, उनका आर्थिक मोल बहुत कम है। वे बोले, ''तुम्हारी बातें सब यथार्थ हैं। किन्तु मैं विवश हं। अपने नियमोंको कैसे तोडं ? यदि मेरा बश चले तो मैं उन लोगोंका बेतन बढ़ा दूं। लेकिन यह नहीं हो सकता कि मैं खुद लूट मचाऊं और उन्हें लूटने दूं।"

रामाने व्यङ्गपूर्ण प्रव्दोंमें कहा, ''तो यह हत्या किसपर पड़ेगी ?" सरदार साहबने तीखे होकर उत्तर दिया, "यह उन लोगीपर पड़ेगी जो श्रपनी हैसियत श्रीर श्रामदनीसे श्रिषक खर्च करना चाहते है। अरदली बनकर क्यों वकीलके लड़केसे लड़की व्याहनेको ठानते है। दफ़रीको यदि टहलुवेकी जरूरत हो तो यह किसी पाप-कायसे कम नहीं। मेरे साईसकी खी अगर चांदीकी सिल गर्हमं डाहना चाहे तो यह उसकी मूर्खता है। इस भूठी बड़ाईका उत्तरदाता मैं नहीं हो सकता।"

₹

इिंहिनयरींका ठेकेंदारोंसे कुछ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा मधुमिक्छियोंका पूलोसे। अगर वे अपने नियत भागसे अधिक पानेकी
चेष्टा न कर्र तो उनसे किसीकी शिकायत नहीं ही सकती। यह
मधुरस कमीश्रन कहलाता है। रिख्यत और कमीश्रनमें बड़ा
श्रन्तर है। रिख्यत लोक और परलोक दोनोंका ही सर्वनाश कर
देती है। उसमें भय है, चोरी है, बदनामी है। मगर कमीश्रन
एक मनोहर बाटिका है, जहां न मनुष्यका डर है, न परमात्माका
भय, यहांतक कि जहां श्रात्माकी छिपी हुई चुटिकयोंका भी गुजर
नहीं है। और कहांतक कहें इसकी और बदनामी श्रांख भी नहीं
उठा सकती। यह वह बिलदान है जो हत्या होते हुए भी धर्मका
एक श्रंश है। ऐसी श्रवस्थामें यदि सरदार शिवसिंह अपने उक्जबल
चरित्रको इस धब्बे से साफ रखते थे श्रीर उसपर श्रमिमान करते थे
तो वे चमाके पात्र थे।

मार्चका महीना बीत रहा था। चीफ इिज्जिनियर साहब जिलेमें मुद्यायना करने द्या रहे थे। मगर द्रमीतक इमारतोंका काम श्रपूर्ण था। सड़कें खराब हो रही थीं। ठेकेदारोंने मिटी श्रीर कंकड़ भी नहीं जमा किये थे। सरदार साइब रोज ठेकेदारींको ताकीद करते थे, मगर इसका कुछ फल न होता था।

एक दिन उन्होंने सबको बुलाया। वे कहने लगे, 'आप लोग क्या यही चाहते हैं कि मैं इस जिलेसे बदनाम होकर जाऊं? मैंने आपके साथ कोई बुरा सल्क नहीं किया। मैं चाहता तो आपसे काम छीनकर खुद करा लेता। मगर मैंने आपको हानि पहुंचाना डचित न समभा। उसकी मुक्ते यह सजा मिल रही है। खैर।"

ठेकेदार लोग यहांसे चले तो बातें होने लगीं। मिस्र गोपालदास बोले, "श्रव श्राटे-दालका भाव मालूम हो जायगा।"

ं शहबाज खांने वाहा, "किसी तरह इसका जनाज़ा निकासे तो यहांसे।"

सेठ चुत्रीलालने फरमाया, "इिज्जिनियरसे मेरी जान-पहचान है। मैं उनके साथ काम कर चुका इं। वह इन्हें खूब लथेड़ेगा।"

इसपर बूढ़े हरिदासने उपदेश दिया, "यारो, खार्थकी बात श्रीर है। नहीं तो सच यह है कि यह मनुष्य नहीं, देवता है। भला श्रीर नहीं तो साल भरमें कमीशनके १० हजार तो होते होंगे। इतने रुपयोंको ठीकरिकी तरह तुच्छ समभाना क्या कोई सहज बात है? एक हम हैं कि कीडियोंके पीछे ईमान बेचते फिरते हैं। जो सज्जन पुरुष हमसे एक पाईका रवादार न हो, सब प्रकारके कष्ट उठाकर भी जिसकी नीयत ड वांडोल न हो उसके साथ ऐसा नीच श्रीर कुटिल बर्ताव करना पड़ता है। इसे श्रपने श्रभाग्यके सिवा श्रीर क्या समभें।"

ग्रह्मबाज खांने फरमाया "हां, इसमें तो कोई शक नहीं कि यह शख्स नेकीका फरिश्वा है।" सेठ चुन्नीलालने गमीरतासे कहा, "खां साहब! बात तो यही है, जो तुम कहते हो। लेकिन किया का जाय? नेकनीयतीसे तो काम नहीं चलता। यह दुनिया तो छल-कपटकी है।"

मिस्र गोपालदास बी॰ ए॰ पास थे। वे गर्वके साथ बोले, "इन्हें जब इस तरह रहना था तो नीकरी करनेकी क्या जरूरत थी ? यह कीन नहीं जानता कि नीयतको साफ रखना अच्छी बात है। मगर यह भी तो देखना चाहिये कि इसका दूसरोंपर क्या असर पडता है। हमको तो ऐसा आदमी चाहिये जो खुद खाय और हमें भी खिलावे। खुद हलुआ खाय, हमें रूखी रोटियां ही खिलावे। वह अगर एक रूपया कमीशन लेगा तो उसकी जगह पांचका फायदा करा देगा। इन महाश्रयके यहां क्या है ? इसलिये आप जो चाहें कहें, मेरी तो कभी इनसे निभ ही नहीं सकती।"

शहबाज़ खां बोले, "हां, निक श्रीर पाक-साफ रहना जरूर श्रच्छी चीज है। मगर ऐसी भी क्या निकी जो दूसरोंकी जान ही ले ले।"

वृद्धे हरिदासकी बातोंकी जिन लोगोंने पुष्टि की थी ने सब गोपालदासकी हांमें हां मिलाने लगे। निर्वल श्रात्माश्रोंमें सचाईका प्रकाश जुगनूकी चमक है।

8

सरदार साइबकी एक पुत्री थी। उसका विवाह मेरठके एक वकीलके लड़केसे ठहरा था। लडका होनहार था। जाति-कुल जंचा था। सरदार माइबने कई महीनेकी दीड़-धूपमें इस विवाहकों ते किया था श्रीर सब बातें हो चुकी थीं, केवल दहेज का निर्णय न हुआ था। आज वकील साहबका एक प्रत आया। उसने इस बातका भी निश्चय कर दिया, मगर विश्वास, श्राशा श्रीर बचनके विलकुल प्रतिकूल। पहले वकील साहबने एक जिलेके इिज्जिनियरके साय किसी प्रकारका ठहराव व्यर्थ समभा। बड़ी सस्ती उदारता प्रकट की। इस लिजित श्रीर ष्टिणित व्यवहारपर कृब श्रांस् बहाये। मगर जब ज्यादा पूछ-ताछ करने । सरदार साहबके धन-बैभवका भेद खुल गया तब दहेजका ठहराना आवश्यक हो गया। सरदार साइबने आशक्ति हाथोंसे पत्न खोला। पांच हजार रूपयेसे कमपर विवाह नहीं हो सकता। वकील साहबको बहुत खेद श्रीर लच्चा थी कि वे इस विषयमें स्पष्ट होनेपर मजबूर किये गये। मगर वे अपने खानदानके कई बूढ़े, खुरींट, विचारहीन, खार्थान महात्माश्रोंके हाथों बहुत तङ्ग थे। उनका कोई वश न था। दिन्निनियर साइबने एक लम्बी सांस खाँची। सारी श्राशाएं मिटीमें मिल गयीं। क्या सोचते थे, क्या ही गया। विकल होकर कमरेमें टचलने लगे।

उन्होंने जरा देर पीछे पत्नको उठा लिया और अन्दर चले। विचारा था कि यह रामाको पत्र सुनावें मगर फिर ख्याल आया कि यहां सहानुभूतिकी कोई आशा नहीं। क्यों अपनी निर्वलता दिखाऊं? क्यों मूर्छ वनूं? वह विना तानोंके बात न करेगी। यह सोचकर वे आंगनसे लीट गये।

सरदार साइब स्वभावने बड़े दयालु थे। श्रीर कोमल हृदय ग्रापत्तियोंमें स्थिर नहीं रह सकता। वे दु:ख ग्लानिसे भरे हुए सोच रहे थे कि मैंने ऐसे कीनसे बुरे कर्म किये हैं जिनका मुक्ते यह फल मिल रहा है। बरसोंकी दौड़-धूपके बाद जो कार्य सिंब हुआ था वह चणमात्रमें नष्ट हो गया। अब वह मेरी सामर्थ्यसे बाहर है। मैं उसे नहीं सम्भाल सकता। चारों श्रोर श्रंधकार है। कहीं श्राशाका प्रकाश नहीं। कोई मेरा सहायक नहीं। उनके नेन सजल हो गये।

भामने मेजपर ठेकेदारों के बिल रक्खे हुए थे। वे कई सप्ताहों से यों हो पड़े थे। सरदार साहबने उन्हें खोलकर भी न देखा था। आज इस आत्मिक ग्लानि और नैराध्यकी अवस्थामें उन्होंने इन विलों को सहण्य आंखों से देखा। जरासे इधारेपर ये सारी कठिनाइयां दूर हो सकती हैं। चपरासी और क्षर्क केवल मेरी सम्मतिके सहारे सब कुछ कर लेंगे। सुभी जबान हिलानेकी भी जरूरत नहीं। न सुभी लिजत ही होना पड़ेगा। इन विचारोंका इतना प्राबल्य हुआ कि वे वास्तवमें बिलोंको उठाकर गौरसे देखने और हिसाब लगाने छगे कि उनमें कितनी निकासी हो सकती है।

मगर शीव्र ही आलाने उन्हें जगा दिया—आह! मैं किस स्ममें पड़ा हुआ हं? क्या उस आलिक पवित्रताको, जो मेरी जन्म-भरकी कमाई है, केवल घोड़ेसे धनपर अर्पण कर दूं? जो मैं अपने सहकारियोंके सामने गर्बसे सिर उठाये चलता था, जिससे मोटरकारवाले मेरे स्वाद्यगण आंखें नहीं मिला सकते थे, वही मैं आज अपने उस सारे गीरव और मानको—अपनी सम्पूर्ण आलिक सम्पत्तिको—दस-पांच हजार रुपयोंपर त्याग दूं? ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

तब उस कुविचारको परास्त करनेके लिये, जिसने चणमात्रके लिये उनपर विजय पा ली थी, वे उस सूनसान कमरेमें जोरसे ठठाकर इंसे। चाई यह इंसी उन बिलोंने और कमरेकी दीवारोंने

सुनी हो चाहे न सुनी हो, मगर [उनकी आत्माने अवश्व सुनी। उस आत्माको एक कठिन परीचासे पार पानेपर परम आनन्द हुआ।

सरदार साइबने उन बिलोंको उठाकर मेजके नीचे डाल दिया। फिर उन्हें पैरोंसे कुचला। तब इस विजयपर मुस्कुराते हुए वे अन्दर गये।

y

बड़े इिन्निन्यर साइब नियत समयपर शाइजहांपुर श्राये। जनके साथ सरदार साइबका दुर्भाग्य भी श्राया। जिलेके सारे काम श्रधूरे पड़े हुए थे। जनके खानसामाने कहा, "हुजूर! काम कैसे पूरा हो? सरदार साइब ठेकेदारोंको बहुत तक्ष करते हैं। हेड क्षार्कने दफ्तरके हिसाबको स्वस श्रीर भूलोंसे भरा हुश्रा पाया। जन्हें सरदार साइबको तरफसे न कोई दावत दी गई, न कोई भेंट। तो क्या वे सरदार साइबके कोई नातेदार थे जो गलतियां न निकालते?"

ज़िलेके ठेकेदारींने एक बहुमूल्य डाली सजाई और उसे बडे दिन्नियर साहबकी सेवामें लेकर हाजिर हुए। वे बोले, "हुजूर। चाहे गुलामोंको गोली मार दें, मगर सरदार साहबका अन्याय अब नहीं सहा जाता। कहनेको तो कमीश्रन नहीं लेते, मगर सच पृक्षिये तो जान ले लेते हैं।"

चीफ इिन्नियर साहबने सुश्राइनेकी किताबमें लिखा—'सर्दार श्रिवसिंह बहुत ईमानदार श्रादमी हैं। उनका चरित्र उज्ज्वल है। मगर वे इतने बड़े ज़िलेके कार्थका भार नहीं संभाल सकते।'

परिणाम यह हुआ कि वे एक छोटे ज़िलेमें भेज दिये गये और उनका दरजा भी घटा दिया गया।

सरदार साहबके मिलों श्रीर स्नेहियोंने बड़े समारोहसे एक जलसा

किया। उसमें उनकी धर्मनिष्ठा श्रीर खतंत्रताकी प्रशंसा की। सभापतिने सजलनेत्र होकर कम्पित खरमें कहा, "सरदार साइबके वियोगका दुःख हमारे दिलमें सदा खटकता रहेगा। यह घाव कभी न भरेगा।"

मगर 'फोयरवेल डिनर'में यह वात सिंड हो गई कि खादिष्ट - पदार्थीं के सामने वियोगका दु:ख दुस्मह नहीं होता।

यावाकी सामान तैयार थे। सरदार साइब जलसेसे आये तो रामाने उन्हें वहुत उदास और मिलनमुख देखा। उसने बार-बार कहा था कि वहें इन्हिनियरके खानसामाको इनाम दो, हैंड क्षर्ककी दावत करो। मगर सरदार साइबने उसकी बात न मानी थी। इसिलिये जव उसने सुना कि उनका दरजा घटा और बदली भी हुई तब उसने वडी निर्दयतासे अपने व्यङ्ग बाण चलाये। मगर इस वक्ष उन्हें उदास देखकर उससे न रहा गया। बोली, "क्यों इतने उदास हो?" सरदार साइबने उत्तर दिया, "क्या करूं, हंस् ?" रामाने गमीर खरसे कहा, "हंसना ही चाहिये। रोये तो वह जिसने कीडियोंपर अपनी आत्मा स्वष्ट की हो—जिसने रुपयोंपर अपना वर्म वेचा हो। यह बुराईका दर्ड नहीं है। यह भलाई और सज्जनताका दर्ड है। इसे सानन्द भोजना चाहिये।"

यह कहकर उसने पितकी श्रोर देखा तो निहोंमें सद्या श्रनुराग भरा हुश्रा दिखाई दिया। सरदार साहबने भी उसकी श्रोर स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखा। उनकी हृदयेखरीका सुखारिवन्द सचे श्रामोदसे विकसित था। उसे गले लगाकर वे बोले, "रामा! सुभी तुन्हारी ही सहानुभृतिकी जरूरत थी, श्रव मैं इस दग्डको सहर्ष सहंगा।"

सर त्राशुतीष मुखोपाध्याय

[शिवनारायण जान (स०१२४४ वि०—वर्षमान)— ये कलकत्ता श्रीविश्रहानन्द सम्मती विद्यालयंकी श्रध्यापक श्रीर कुछ दिनीतक प्रध नाध्यापक थे। श्राजकल क्लौटिश चर्च कौलिज, प्रेसिडेन्सो कौलिज, गवनसेस्ट कौमार्थयल इ स्टिट्यूट श्रीर विद्यासागर कौलिजकी श्रध्यापक तथा कलकत्ता विश्व वक्षालयं श्रध्यापक श्रीर परीचक हैं। हिन्दी साहित्यके वि ान् होनेके माथ साथ बद्रभाषांके भी पिछत हैं। विद्यासागर कौलिजमें बद्रभाषांके भी श्रश्रापक हैं। हिन्दी भाषामें इनका कहातक प्रवेश है यह इनके सर न हिन्दी-व्याकरणसे ही स्पष्ट विदेश साथ साथ स्वरं स्वरं ही जाना है। इनकी लिखन-शैली परपुष्ट श्रीर पिम्माजत होनेके साथ साथ सरस, सरल श्रीर स्पष्ट है।]

सर्वातिरिक्तसारेण सर्व्वतेजोऽभिभाविना। 'ो स्थितः सर्व्वोत्रतेनोर्व्वी' क्रान्त्वा मेक्रिवात्मना॥ —रघुवंश, सर्ग १, स्रोक १४

वर्मिकोलाइलमय संसारके भयावह ग्रावर्तमें पडकर किसी टेशके निव्हीन ग्रधिवासी जब चारों ग्रोर ग्रन्थकार देखते हैं, तभी उनके परिचालकस्त्ररूप ऐसे किसी लोकोत्तर पुरुषका ग्राविर्भव हुग्रा करता है, जो जनसाधारणकी ग्रपेचा कहीं उच ग्रीर सारवान् होते हैं। उनके समकालीन सभी व्यक्तियोंकी सामर्थ्य उनके तेजके ग्रागि चीण हो जाती है। सारी विपत्तियोंकी उपेचा कर वे मेरकी भांति ग्रचल ग्रटल भावसे स्थिर रहकर ग्रपना कार्य सम्पादन करते हुए ग्रीरोंके लिये ग्रादर्श छोड़ जाते हैं। संचेपमें उन्हें ही युगावतार लोकनायक कह सकते हैं। प्रत्येक युगमें प्रत्येक देशमें ऐसे

महापुरुषोंके दर्शन मिलते हैं। विखविख्यात सर आग्रातीष मुखोपाध्याय इसी प्रकारके एक पुरुषपुंग्व थे।

ऐसे महापुरुषोंकी जीवनीकी आलोचनासे स्पष्ट विदित होता है कि वे देशकालभेदसे भिन्न भिन्न प्रकारके उद्देश्यसाधनके निमित्त ही इस भूलोकको अलङ्कात करते हैं। सर आश्रतोष अपने देशवासियोंकी शिचाका भार ग्रहण कर ही इस मर्ह्यभूमिप्र अवतीर्ण हुए थे। (बङ्गदेशके अधिवासियोंकी शिचाकी, अधीनताकी जंजीरसे जकडी हुई और आत्ममर्थ्यादाको भूली हुई जातिको चित्रकी खाधीनताका माहात्म्य सिखानकी, ये खर्गसे सन्दर लेकर आये थे।)

सर आग्रतोषकी सभी बातें विलंचण थीं। इनका हृदय, विद्या, वृद्धि, कर्माशक्ति अध्यवसाय और ग्ररीर सभी विराट् थे। इसीसे ये विराट् पुरुष विराट् कनकत्ता विश्वविद्यान्यका संघटन करनेमें समर्थ हुए थे। नवगठित विश्वविद्यालयकी ये प्राणस्वरूप थे। इस विश्वविद्यालयकी प्रत्येक विशेषता इनकी अपूर्व्व कर्माशक्तिका परिचायक है। इस समय ग्रिचाविषयमें बङ्गदेश जो भारतके अन्यान्य प्रदेशोंमें अप्रगुख्य हो ग्हा है, बङ्गदेशका विश्वविद्यालय जो आज केवल भारत क्यों सुदूरवर्त्ती सुसम्य देशोंमें भी प्रख्यात हो रहा है, वह सर आग्रतोषकी महिमाका हो फल है। बङ्गदेश भारतका सुक्तटमिं है और उसी बङ्गदेशके गीरवमिं थे सर आग्रतोष।

सर आश्रतोषका श्रम जन्म सन् १८६४ ई०में कलकत्ता महानगरीके मसंगा सेनमें हुआ था। आपके पूज्य पिताजीका नाम गङ्गाप्रसाद मुखोपाध्याय था। उन्होंने अपना वासभवन भवानीपुरमें बनवाया था। गङ्गाप्रसाद बाब प्रसिद्ध चिकित्सक थे। चिकित्सामें उन दिनों उनका जैसा सुनाम था, व्हान्यतामें उनकी प्रसिद्धि उससे काम नहीं थी। दीन दिर्द्रोंके यहां जाकर वह केवल रोगियोंको बड़े यत्नसे देखते यही नहीं, उनसे दर्शनी भी नहीं लेते, यहांतक कि जाने आनेका खर्च और औषधिका मूल्य भी ख्यं देते। यह उन्हींकी शिचाका फल था कि उनके सुप्रत सर आश्रतोष ऐसे योग्य निकले।

बाल्यकालसे ही आग्रतोषकी तील्यवृद्धि और अङ्गत कार्थ्यक्रांतिका परिचय मिलने लगा था। 'होनहार बिरवानके होत चीकने पात' इसके ये उळवल दृष्टान्त थे। सन् १८७८ ई॰में इन्होंने प्रविशिका परीचा दी थी जिसमें ढतीय स्थान अधिकार किया था, किन्तु गणितमें प्रथम हुए थे।

गणितशाखपर इनका प्रगाढ़ अनुराग था। प्रेसिडेन्सी कीलेजमें एफ॰ ए॰ पढ़नेके समय गणितमें इन्होंने एम॰ ए॰ परीचाकी पुस्तकों समाप्त कर दी थीं। बी॰ ए॰ परीचामें प्रथम स्थान अधिकार करनेके बाद गणितशाखमें एम॰ ए॰ परीचा दी, और उसमें भी इन्होंने अपना पूर्व यश अच्चस रखा। सन् १८८५ ई॰ में इन्होंने प्रेमचन्द रायचन्द हित्तके लिये कलकत्ता विखिवयालयकी सर्व्येष्ठ परीचा दी, जिसमें आप ही को हित्त मिली। इस अति कितन परीचाके साथ साथ दूसरी बार विज्ञानमें एम॰ ए॰ परीचा दी और उसमें भी प्रथम स्थान प्राप्त किया। सन् १८८८ ई॰ में आईन-परीचामें उत्तीर्ण हुए और उसके बाद 'डाक्टर औफ ली' की उपाधि लाभ की। इस प्रकार विख्वविद्यालयक्षी आकाशको मध्याक्रकालके प्रचण्ड मार्चण्डकी मांति आलीकित करते हुए आपने कावजीवन व्यतीत किया।

श्रव परीचा देना वन्द हुश्रा सही, किन्तु छात्रजीवन जारी रहा। श्राप श्राजीवन विद्याचर्चा कर गये हैं (कर्मजीवनका कड़ा दवाव श्रथवा संसारके नाना प्रकारके प्रवत्त भाज्यावात श्रापकी दुईमनीय ज्ञानिलिमा विन्दुमात्र भी कम नहीं कर सके। अप्रपक्ता श्रपना एक विश्वाल पुस्तकागार है। हिडावस्थामें भी श्राप पुस्तकोंके ही वीच मगन रहते थे, जिसके फलस्वरूप ऐसी विद्या या श्राच नहीं जो श्राप नहीं जानते। धर्मश्राच, विज्ञान, दर्भन, माहित्य, श्रयशाच, दितहास श्रादि सभी विषयोंमें श्राप श्रमाधारण व्युत्पन्न थे। श्रापकी विद्यास मुग्ध होकर नवहीपकी पण्डित-मण्डलीने श्रापको 'सरस्तती'की उपाधि दी थी। यह उपाधि नड़ी ही उपयुक्त थी, क्योंकि श्राप सरस्तती देवीके प्रक्षावतार थे यह कहना श्रत्यक्ति नहीं है।

जिस प्रकार स्थ्येका उदय होते ही उसकी किरणे आप ही चारों ओर विखर जाती हैं, फूल खिलने पर उसकी सुगन्ध ख्यं सर्वेद्ध फैल जाती है, उसी प्रकार विद्याका यश भी सारे संसारमें खतः ही फैल जाता है। तरुण आग्रुतोषकी विहत्ता और ज्ञानकी वात किसीसे छिपी नहीं रही। शिचा विभागके डिरेक्टर महोदय इनके गुणोंसे परिचित थे। उनकी यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि ये शिचाविभागमें काम करें, क्योंकि वे जानते थे कि इनके सहयोगसे शिचा विभागकी वहुत कुछ उन्नति हो सकती है। इसलिये उन्होंने इन्हें २५० मासिक वितनका कार्य देना चाहा। किन्तु इन्हें विलायतसे हो आये हुए लोगोंके समान वेतन नहीं दिया जायगा यह जानकर इन्होंने उस कार्यका प्रत्याख्यान किया। विद्या, वृद्धि, ज्ञान किसीमें ये विलायतसे लीटे हुए किसी विद्यान्से

कम नहीं थे। जो श्रात्ममर्थादाका गीरव जानता है, जिसके हृदयमें श्रात्मसमानिका भाव भरा है, जो श्रपनी कार्थ्यक्रित श्रच्छी तरह समभता है, वह यह कैसे सह सकता है ? इंनका तेजस्वी हृदय श्रीर लोगोंसे कम वेतनमें कार्थ्य ग्रहण करनेकी समाति न दे सका। श्रतपव कार्थ्य करना स्वीकार न कर हाईकोर्टमें वकालत करनेका विचार किया श्रीर सर रासविहारी घोषके श्रधीन श्रिचान्वीस हुए। कुछ दिनोंमें ही व्यवहारशास्त्रमें इनकी श्रसाधारण दस्तता प्रकट हुई। लोगोंकी धारणा है कि सरस्तती श्रीर लस्त्रीका एक साथ समागम नहीं होता, श्रीर यही कारण है कि विदान धनवान् नहीं होते, किन्तु सर श्राश्वतोषके विषयमें यह कहा जा सकता है कि इनकी विद्यत्ता त्रेक्त सामने सस्त्री श्रीर श्रका जा सकता है कि इनकी विद्यता श्रेक्त श्रीर होने लगी।

किन्तु अर्थीपार्जन हो इनका उद्देश्य नहीं 'या, नाना विषयों में मनोयोग देने लगे और श्रोन्न हो विश्वविद्यालयको सिण्डिकेट सभाक्ते सदस्य नियुक्त हुए। इनकी असाधारण चमताका हो प्रभाव या कि केवल २४ वर्षको अवस्थामें इन्हें यह सम्मान मिला। सन् १८८८ और १८०१ ई०में दो वार विश्वविद्यालयको ओरसे बङ्गीय व्यवस्थापक सभाके सदस्य निर्वाचित हुए। बढे लाट साहबको व्यवस्थापक सभाके भी सदस्य हुए। सन् १८०२ ई०में भारतवर्षको शिच्चापहितको नयो व्यवस्था करनेके लिये लीर्ड कर्जनने जो कमिटी वनायो यो उसके सभ्य मनोनीत हुए, और विश्वविद्यालय सम्बन्धी वर्त्तमान आईन विधिवह करनेमें हाथ बंटाया। सन् १८०४ ई०में आप हाईकोर्टके विचारक नियुक्त हुए तथा सदीर्घ १८ वर्ष असाधारण स्वावुहि, विशिष्ट व्यवहारज्ञान, विचच्चणता तथा न्याय-

परतांक साध उत्त पदको गीरवान्वित किया। इस बीचमें इन्होंने दो बार अखायो रूपसे प्रधान विचारपतिका आसन भी अलङ्क्षत किया, और इन्हें 'नाइट'को उपाधि मिली।

बङ्गदेशका प्रधान न्यायालय जीविका उपार्जनका कार्यचेत्र या कलकत्ता सही, पर इनका सर्व्वप्रथम और सर्व्वप्रधान कार्यचेत्र या कलकत्ता विख्वविद्यालय। शिचाविस्तारमें क्या राजा क्या प्रजा समोंकी उदासीनता देखकर यह अत्यन्त दुखी हुए थे इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि इन्होंने सर्व्वसाधारणीं व्यापक भावसे शिचा प्रचार करना ही अपने जीवनका प्रधान लच्च माना और ख्यं इस कामको पूरा करनेका बीडा उठाया। इस उद्देश्यकी सिद्धिक लिये विख्वविद्यालयीं प्रवेश करनेके समयसे जीवनके शेष मुहर्त्ततक तन-मन-धनसे उसकी सेवा कर गये है।

विश्वविद्यालयं संस्तारमें पद पदपर बाधा मिलने पर भी ये भगनोत्ताह नहीं हुए। अपनी कुणायवुि तथा दूरदर्शितां प्रभावसे बहुतसे कर्माकुणल वृद्धिमानों को अपनी और आक्षष्ट करनेमें समर्थ हुए, तथा उनके सहयोगसे स्वयं जो उचित समभा वही किया। अन्तमें जब १८०६ ई०में विश्वविद्यालयं वाईस-चान्से लर नियुत्त हुए, तब इनके उद्देश्यकी सिंहिका सुवर्ण-सुयोग संघटित हुआ। सन् १८०६से १८१४ ई० तक और सन् १८२१से १८२३ ई०तक वाईस-चान्से लरे पदपर प्रतिष्ठित रहकर विश्वविद्यालयं आमूल संस्तार कर उसकी जिस नयी मूर्त्तिकी प्रतिष्ठा की वही इनकी श्रेष्ठ कीर्ति है। विश्वविद्यालयं काल्याण्के लिये इनका अविश्वान्त अध्यवसाय अतुलनीय था। विचारकार्थके-कठिन परिश्वमंके बाद इन्हें जो कुछ श्रवसर मिलता वह सब विश्वविद्यालयंके कार्थमें

ही लगाते। सोते जागते श्रीर सभावतः खप्नमें भी ये विश्वविद्यालयकी मङ्गलकामना किया करते थे।

पहले यह विश्वविद्यालय केवल परीचालय था, इन्होंने इसे शिचालयमें परिणत कर विश्वविद्यालयके नामकी सार्थकता सम्पन्न की। अब यहां प्राच्य और प्रतीच्य साहित्य, विज्ञान, गणित, दर्शन, अर्थशाल आदि नानाविध विषयोंकी उच्च शिचा दी जाती है। इनकी चेष्टासे सर तारकनाथ पालित और सर रासविहारी घोषने अपना अतुल ऐश्वय्य विश्वविद्यालयके हाथ सौंप दिया, जिससे 'विज्ञान-कालेज' खापित हुआ जो अपने ढंगका एक ही है।

विश्वविद्यालयकी सर्व्वतोमुखी उन्नति इन्हींकी कीर्त्ति है यह सभी जानते हैं, किन्तु सर्व्वश्रेष्ठ कीर्ति है इनकी बङ्गभाषाको श्रीर साथ साथ हिन्दी, मैथिली, गुजराती श्रादि भारतकी श्रन्थान्य प्रचलित भाषात्रोंको विश्वविद्यालयमें उच्च स्थान देना। पहले इन दीन भारतबाणियोंको विश्वविद्यालयके आंगनमें बड़े ही सङ्कोचसे प्रवेश करना पड़ता था। ये भाषाएं भी पढ़ने और परीचा देनेके उपयुक्त हैं इस ग्रोर किसीका ध्यान ही नहीं था। माल-भाषाका अनादर देख इनका हृदय व्याकुल हो उठा। ये इस वातको हृदयङ्गम कर सके कि माहभाषाकी चर्चा सम्यग्रूपसे किये बिना ज्ञानचेचीमें पूर्णता प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अतएव दुन्होंने भारतबाणियोंको उच आसन दिया और दन भाषाश्रोंमें एस॰ ए॰ प्रीचा होने लगी। ये यदि श्रीर कुछ भी न कर सकते तीभी केवल इसीके लिये इनकी कीर्त्ति अन्नुस अजर अमर रहती। यह कहना अनुचित न होगा कि ये दूस विष्व-विद्यालयको भारतीय विश्वविद्यालयोंमें आदर्श श्रीर शीर्षस्थानीय

तथा अन्यान्य उन्नत देशोंके प्रथम श्रेणीके विश्वविद्यालयोंके समकच

सर आश्रतोषके चित्रका वर्षन करना अगाध समुद्रमें डुबका लेना है। किस गुणको लें और किसे छोडें, समभाना कितन है। इनका चित्र समभानेकी जितनी चेष्टा की जाय उतना ही हृद्य विस्मयसे पूर्ण हो जाता है।

इनके चरित्रमें सबसे बड़ा गुण था अपनी श्ररणमें आये हुए लोगोंकी रचा करना श्रीर उनपर सदा क्षपा रखना। केवल इस श्रास्त्रितवत्सलतासे ही ये जनसाधारणके हृदयको अपनी श्रोर श्राक्षष्ट कर सकते थे ऐसा भी समय श्रा जाता था कि ये उनके दोषगुणोंपर विचार करनेका अवसर तक नहीं पाते। इससे इनकी कभी कभी निन्दा भी हो जाती थी। पर नि:खार्थ उपकार करनेमें निन्दासे डर किस बातका ? चाई इसे उदारता कहें चाहे दुर्बलता कहें, यह इनमें विशेषता थी कि जो दनकी क्रपा भिचा चाइता उसका यथाशक्ति उपकार करनेमें ये कभी कुण्डित नहीं होते। यह दनके हृदयका साध्ये था। ये न तो कभी किसीको ह्या आशा देते और न मीठी मीठी बातोंसे किसीको कभी भुलावेमें डालते। वास्तवमें विपन्न होकर जो इनकी शरणमें श्राता उसे श्राश्रय देनेके लिये इनका हृदय व्यय हो उठता। जिनके असीम तेज और व्ज्रगभीर खरसे वीरोंका हृदय कांप उठता, जो 'बङ्गालकी बाघ'के नामसे परिचित थे, उनके हृदयमें ऐसी कोमलता देखकर चिकत होना पडता है। ऐसे कठिन नीरस त्रावरणके भीतर ऐसा खादिष्ट मधुर जल-कोमलता, दयालुता। इसीपर सच्चे सज्जनके लच्चणमें कहा गया है-

'नारिकेल-समाकारा दृश्यन्ते हि सुसळानाः।' भवभूतिने भी कहा है कि श्रेष्ठ व्यक्तिका चित्र बज्जसे भी कठोर श्रीर कुसुमसे भी कोमल होता है। उनके अन्तस्तलका पता पाना जनसाधारणके लिये दुष्कर है।

क्या समाजमें, क्या कर्माचेत्रमें कहीं भी इन्होंने आत्ममर्थादाकों कालुषित नहीं होने दिया। इनके ऐसे धर्माभावयुक्त मनुष्य भी विरले हो मिलेंगे। इनको स्मित्यिक्ति भी असाधारण थी। जिस पुस्तकको यह एकवार पढ़ जाते उसको बातें इन्हें बरसों याद रहतीं, और इसीसे किस पुस्तकमें क्या है या किसने कब क्या कहा या लिखा है यह जानने के कारण ये किसोके भुलावेमें नहीं आ सकते थे। इनके गुणेंका स्मरण कर मन मुग्ध हो जाता है। विश्वविद्यालय क्या, ये एक महासाम्बाज्य-संवटनको शिक्त के बार आये थे। इनके लिये बङ्गदेश बड़ा हो संकोण चेत्र था इसमें सन्देह नहीं।

जीवनके सायाक्र आखामें ये विचारकपरसे अवसर ग्रहण कर पुनः वक्तालत करने लगे थे। उन दिनों इमरांव राज्यका जिटल मामला चल रहा था। उस प्रसिद्ध मुक्तहमें एक प्रवक्ती श्रोरसे वकील नियुक्त होकर ये पटना गये थे। वहों ये अकस्मात् असस हुए। एक ही दिनमें इनकी अवस्था ऐसी विगड़ गयी कि किसीको इनके बचनेकी आशा न रही। सन् १८२४ ई॰की २५ वीं मई, रिववारकी सन्धाको ७ बजे केवल दो ही दिन रोगभोगके बाद इन्होंने अमरधामको प्रस्थान किया। इस प्रकार इनकी आधिमीतिक शिक्त सदाके लिये अस्त हो गयी, परन्तु इन विद्यावीरकी प्रवित्न स्मृति भारतवासियोंके हृदयमें सदा जीवित

रहेगी। उसी रातको इनके सुप्रुत्नोंने इनका यव खेयल ट्रेन दारा कलकत्ता पहुं चानेका प्रबन्ध किया। स्टल्यु-समाचार रातहीको कलकत्ता महानगरीमें दावानलकी तरह फैल चुका था। सभीके हरे भरे हृदय कुलसंरहे थे। सीमवारको सबरा होते ही राजा महाराजा, जज मजिष्ट्रेट, अध्यापक विद्यार्थी प्रसृति असङ्घर नरनारी इनके अन्तिम दर्शनके लिये हवड़ा स्ट्रेयन पहुं चे और वहांसे प्रवक्ते साथ कालीघाटतक गये, जहां इनकी अन्त्येष्टिक्रिया सम्पन्न हुई। फिर तो नगरभरमें ऐसा श्रोक छाया मानों कलकत्तावासियोंके किसी अत्यन्त निकट आक्षीयको गङ्गालाम हुआ हो। समाचार फैलनेके साथ बङ्गदेश तो मुद्धमान हो ही गया, सारा भारतवर्ष भी श्रोकसे आतुर हो उठा। स्कूल, कीलेज, कचहरी, श्रीफिस सभी जगह श्रीर वाईसरायकी कौंसिलसे लेकर छोटीसे छोटी समितियों तकमें इनकी स्मृतिमें श्रोक मनाया गया श्रीर हाईकोर्ट, यूनिवर्सिटी, कीलेज, स्कूल, आदि सभी बन्द रहे।

यह पहले ही कहा गया है कि सर आग्रतोष विश्वविद्याल्यके प्राणस्कर थे। इनकी सृत्युस विश्वविद्यालय प्राणहीन ग्ररीर—पिन्हींन पिन्तर हो रहा था। इस विश्वाल विश्वविद्यालयका ऐसा कर्णधार कीन होगा जो इनका स्थान पूर्ण कर सके, यह चिन्ता बहुतोंको व्यय कर रही थी। यों तो विश्वविद्यालयके सभी कार्थ हो ही रहे थे, पर वह खलाह, वह जाग्रति, वह निर्भीकता कहां? ईश्वरकी लीला श्रपरम्पार है। इस विश्वाल कार्यामें फिरसे प्राण लानके लिये स्वर्गमें भी आग्रतोषकी आत्मा विचलित हुई और अपना एक अंग्र अपने स्थानपर बिना बैठाये न रह सकी। 'आत्मा वै जायते पुतः'—पुन अपनी ही आत्मा है। इनके सुपृत श्रीयुक्त

श्वामाप्रसाद मुखोपाध्याय, एम॰ ए॰, बी॰ एल॰, डी॰ लिट॰, बारिष्टर-एट-ली, एम॰ एल॰ ए॰, महोदय वाईस-चान्सेलरके प्रतिष्ठित पदपर प्रतिष्ठित हुए। इन्होंने भी अपने पिताकी भांति बड़ी योग्यता, निपुणता तथा निभीकताके साथ चार वर्ष विश्वविद्यालयके कार्यी का सुचारुक्पसे सम्पादन किया। प्रत्येक विभागका निरीचण खयं इस प्रकार किया कि इनके पूज्य पिताजी जितने कार्य अधरे छोड़ गये थे उनके पूरे होनेमें अब सन्देह नहीं रहा, और जो जो उनकी आन्तरिक अभिलाषाएं थीं उनके भी कार्यमें परिणत होनेके खचण दिखाई देने लगे।

(इस ग्रसार संसारसागरसे पार उतरनेकी जो ग्रभय तरणी हैं तथा कर्मयोगियोंके लिये जो एकमाल ग्रवलम्ब हैं, उन नवदूर्वादलग्रामकान्ति, पीतवसन, पद्मपलासलोचन, ग्रानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्दसे
प्रार्थना है कि वे ग्रामाप्रसादजीको नीरोग ग्रीर चिराय, रखें जिससे
विश्वविद्यालयकी ग्रीर भी उन्नति करनेमें उनसे सहायता मिलती
रहे।

सीज्न डल है

[रामनरेश विपाठी (सं० १.१४६ वि० — वर्त्तमान) — ये गय और पय दोनों के भक्के लेखक हैं। हिन्दीकी उन्नति करनेमें इनका उपम और उत्साह सराहनीय है। इनकी रचना-शैलों भी उत्तम है। इनकी लिखी 'कविता-कों सुदी' जो कई भागों में समाप्त हुई है और जिसमें वहुमूख्य मिण्यों की लिखा है, हिन्दी भष्डारका एक अमुख्य रव है।

[8]

स्थान—डाकरका शयनागार समय—प्रातःकाल ८ वर्ज

(डाक्टर शौच आदिसे निव्वत्त होकर एक टूटी हुई आरामकुर्सी-यर लेटा हुआ, आंखें मूंदकर, हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहा है।)

डाकर—हाय। मेरा ड्राइंगरूम बिल्कुल डजड़ा हुआ है।
एक भी फर्नींचर नहीं है। हे ज्वर! तुम कहां हो ? मेरी स्त्रीके
ग्रिश्तर एक भी कृीमती गहना नहीं है। हे इन्फ्लुएज्ञा। तुम
किस देशमें रम रहे हो ? मेरे बच्चे पैसेकी कमीसे न थियेटर
देखने जाते हैं, न सिनेमा। हे म्लेग! इस नगरमें तुम्हारा ग्रुभागमन
कव होगा ? मेरे पास मोटर नहीं है। में मरीज़ींको देखने
तांगेपर जाता हं। हे हैजा! मैं तुम्हारी राह देख रहा हं।
मुक्ते चौबीस घर्ण्डोमें चार-पांच बार बदलनेके लिए कई सूट चाहिए;
इ:-सात जोड़े बूट चाहिए; चग्र्मा, कड़ी, घड़ी श्रीर फाडर्ण्डनपेन चाहिए। हे मलेरिया! तुम्हारे हृदयमें मेरे लिए दया कब
उत्पन्न होगी ?

(खीका प्रवेश)

स्ती-प्रियतम! चा तैयार है। श्राजकल श्राप चिंतित-से क्यों रहते हैं ?

डाक्टर—(धीरेसे (सीजन डल है।) [२]

खान--मकानका बरामदा

समय-संध्या

(उपिश्वित—डाक्टर और उसके जन-परिजन)

डाकर—(दोनों हाथ मुंहपर फेरकर) ईखर सचमुच दीनवस्युः है। वह सबकी ख़बर खेता रहता है।

- कन्या—पिताजी। सुभे एक रेशमी साड़ी ख़रीद दो। डाक्टर—श्रच्छा बेटी! मलेरिया श्रा गया है।

ही—मेरे लिए कुछ सोनेके गहने बनवा दीजिए। सुके भतीजीके व्याहमें न्योते जाना है।

डाक्टर—ग्रच्छा, मेरी रानी। इन्फ्लुएञ्जाके केस बढ़ रहे हैं। साईस—हुजूर। घोड़ेको दाना कम मिलता है, इससे वह दुबला ग्रीर कमजोर पड़ता जा रहा है।

े डाक्टर—दाना बढ़ा दो। हैज़ा फैल चुका है। पुत्र—पिताजी। मोटर ले लो।

डाकर—बेटा! यदि ईखरकी क्षपा हुई श्रीर इस ग्रहरमें प्लेग श्रा गया तो इस साल जरूर मोटर ख़रीद टू'गा।

सक्खनवाला—डाकर साइव । सक्खन ? डाकर—हां, रोज़ं दे जाया करो । शहरमें बीमारी फैल चुकी है। दिन भर दीड़ना पड़ता है। मक्खन न खानेसे प्रारीर निर्वेख पड जायगा।

[₹]

स्थान-दवाखाना

समय-प्रातः काल १० बजे

एक ग्रीब—इजूर! आज पंद्रह दिन दवा पीते हो गये, मेरे लडकेका ज्वर नहीं गया।

डाक्टर—(ग्रन्थमनस्त-सा होतर) तुम्हारे लडकेकी बीमारी बडी कडी है। उसका फेफडा सडा जा रहा है। कुछ दिन लगकर दवा करो, नहीं तो पछताश्रोगे।

ग्रीब—हुनूर। दवाका दाम कहांसे लाऊ'? किसी तरह श्रारतके गहने श्रीर घरके बरतन वेचकर बीस-पचीस रूपये जमा किये थे, सब दवाके दाममें लग गये।

डाक्टर—(ग़रीबकी श्रोर ताककर) भाई। दवाके टाम तो देने ही पडेंगे।

ग्रीब--हुजूर। ग्रीब श्रादमी हं। जन्दी श्राराम कर दीजिए।

डाक्र-कम्पाउग्डर।

कम्पाउर्द्धर--जी, हां (कम्पाउर्द्धर श्राता है)।

डाक्टर—(ग्रलग ले जाकर) इसके लडकेको ग्रबतक क्या दवा देते रहे हो ?

कम्पाउर्डर—श्रवतक तो खाली पानी श्रीर कभी-कभी उसमें सींफकी श्रकंकी दो एक बूंदें डालकर दिया करता था। डाकर—वहं कहता है कि मेरे पास श्रव पैसा नहीं है। उसके लड़केको मामूली मलेरिया ज्वर है। दो-तीन खुराक कुनाइन-मिक्शचर दे दो, श्रच्छा हो जायगा। (ग़रीबसे) दवा बदल दी है। श्रव दो ही तीन खुराकमें तुम्हारे लड़केका ज्वर उतर जायगा।

ग़रीव—भगवान् श्रापका भला करें। श्राप जुग-जुग जियें। (ग़रीब कम्पाडग्डरके पास जाता है।)

(एक रईसका प्रवेश)

रईस—डाकर साहब! मेरे लड़केकी तन्दुक्सी दिन पर दिन बिगड़ती जा रही है। कोई दवा कार नहीं कर रही है।

डाक्टर—ग्रापके लड़केको चय-रोग प्रारमा हो चुका है। मैंने उस दिन खूनकी परीचा करके देखा था। खूनमें चयके कीटाण पैदा हो चुके हैं।

रईस—(चिन्ताकुल होकर) तब ?

डाक्टर—तब् क्या ? चय-रोग बहुत भयानक रोग है। ग्राराम होनेमें कुछ समय लगेगा।

र्द्रस—एक वर्ष तो आपकी दवा लेते हो गया, अब और कितना समय लगेगा ?

डाकर-जबतक आराम न हो, तबतक तो दवा करनी ही पड़ेगी। (मनमें) (में न रोगीको मरने देता ह्रं, न रोगको। मैं दोनोंकी रचा करता ह्रं। जो किसीके लिये रोग है, वह मेरे लिए कल्पहच है, कामधेनु है।) (मनमें कुछ उत्साहित होकर) हे रोगो। तुम पूलो, पलो, चिरंजीवी हो। घर-घरमें तुम्हारा निवास हो। शरीर-शरीरमें तुम्हारा श्रटल राज्य हो।

रईस—डाकर साइब! फिर क्या कहते हैं ?

डाक्टर—ग्राप ग्राज्ञा दें तो कलकत्ते, बस्बईसे दो-तीन बड़े डाक्टरोंको बुलाकर कन्मल्ट (सलाइ) करूं ?

रईस—का ख्च लगेगा ?

डाक्टर—विशेष नहीं, श्राठ-दस हज़ारके लगभग लगेंगे। रईस—बहुत है।

डाकर-श्रापके लिए कुछ भी नहीं है। एक ही लडका है। धन-दौलत कोई साथ ले जायगा ?

रईस—श्रच्छा, सात-श्राठ तकमें काम हो जाय तो दो-तीन डाकरोंको बाहरसे बुलाकर दिखला लीजिए।

डाकर—देखिए, कोशिश तो मैं करूंगा कि इतनेमें काम हो जाय। पर साहब। श्रापका इतना बड़ा नाम सुनकर बाहरके डाक्टर लोग मुंह बहुत फैलायंगे। (मनमें) हे भगवान्। रोग श्रीर रोगी दोनों ही दीर्घायु हों।

[8]

स्थान--कौंसिल

स्वराजिष्ट मेम्बर—डाकरोंकी संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है। साथ ही मलेरिया, इन्फ्लुएजा, हैज़ा, प्लेग, चेचक़, चय, डायबिटीज (मधुमेह) ग्रादि तरह-तरहके रोग भी बढ़ते रहते है। क्या डाकरोंकी वृद्धिके साथ रोगोंकी वृद्धिका कोई सम्बन्ध है? डाकरोंका खार्थ रोगके बढ़नेमें है, घटनेमें नहीं। इससे डाकरकी नीयत रोग घटानेकी हो नहीं सकती। सरकारको चाहिए कि रोगों को कम करनेके लिए वह डाकरकी नीयत पर कजा करे। नीयत बदले बिना रोग घट नहीं सकते अतएव मेरा प्रस्ताव है

· — डाक्टर मात्र जनताकी खास्त्र्यकी जि़मीदार समभी जायं।

२—शहरोंने महन्ने डाक्टरोंमें बांट दिए जायं। प्रत्येक व्यक्तिसे उसकी हैसियतके अनुसार डाक्टरको प्रतिमास एक निश्चित रक्तम दिलाई जाय। जब कोई व्यक्ति बीमार हो, तब उससे डाक्टरको प्रतिमास जितनी रक्तम मिलती हो उसकी दो गुनी रक्तम प्रतिदिन डाक्टर इस मरीज़को तबतक दिया करे जबतक वह नीरोग न हो जाय। जैसे एक व्यक्ति डाक्टरको प्रतिमास दो रुपये दिया करता है। यदि वह बीमार हो तो डाक्टर उसको प्रतिदिन १० दिया करे। ऐसा नियम वन जानेसे डाक्टरोंको नीयत बदल जायगी और कोई डक्टर यह न चाहेगा कि रोग बढ़े। बिल्स सब इस प्रयहमें रहेंगे कि उनके महन्नेका कोई भी व्यक्ति बीमार न होने पावे।

इिंग्डिपेर्डिग्ट मेम्बर—मैं हृदयसे इस प्रस्तावका समर्थन करता इं।

नैशनलिस्ट—यह प्रस्ताव जनताने कल्याणने लिए बहुत आवश्यक है। मैं ज़ोरोंसे इसका अनुमोदन करता हं।

लिबरल-इससे अच्छा प्रस्ताव कौंसिलमें कभी श्रोया ही नहीं। मैं तहेदिलसे इसकी ताईद करता हं।

हिन्दू-सभावादी—यह प्रस्ताव सर्व-समातिसे पास होना चाहिए।
मुित्तम-लोगवादी—बढ़ती हुई वीमारीका यही सबसे अच्छा
इलाज है। यह रिज़ोळूशन ज़रूर पास होना चाहिए।
सभापति—इस प्रस्तावके विरुद्ध कोई कुछ कहना चाहता है?

श्रावाज्-कोई नहीं।

एक सदस्य—में इसमें इतना श्रीर बढ़ा देना चाहता है कि—
यदि कोई रोगी श्रिषक दिन बीमार रहकर मर जाय श्रीर
बीमारीके दिनोंकी रक्तम वह डाक्टरसे न पा चुका हो तो उसके
वारिसको श्रिषकार है कि वह डाक्टरसे वसूल करे। यदि उसका
कोई वारिस न हो तो सरकार वसूलकर सकती है।

सभापति—इसके पचर्में जो हों, क्षपया हाथ उठावें। सब—(एक खरसे) त्राल, त्राल। सभापति—दोनों प्रस्ताव सर्वसमातिसे पास हुए।

[및]

खान—डाकरका घर।

समय—सर्वेरे १० वर्ज । प्रस्ताव कानून बन चुका है ।

(डाक्टर साइब भोजन कर रहे हैं।)

नीकर—डाक्टर साइव! ठाकुर साइवका नीकर आया है कि डनको आज सर्वेरेसे खांसी आ रही है।

डाकर—(इडवडाकर, इाथमें उठाया हुआ ग्रास थालीमें फेंककर) जल्दी मोटर लाओ। ड्राइवरको बोलो, इरवक मोटर दरवाज़े पर तैयार रहे।

(उठकर रूमालसे हाथ पींछते हुए जाते हैं।)

स्त्री-भला, खाना तो खाते जाइए।

् डाक्टर—(चलते-चलते) ठाकुर साइबसे सुक्ते ५ महीना मिलता है। शामतक खांसी न श्रच्छी हुई तो मुभापर १० रोज़ की चपत पड़ जायगी। पिछले महीने दो हज़ार रूपये सुभे अपने याससे रोगियोंको देने पड़े हैं।

ची-हे भगवान्। इस मोहलेमें किसीको खांसी न त्रावे।

[&]

(डाक्टर साइब मोटरपर बैठ रहे हैं)

(एक ग्रीब चमार श्राता है)

चमार—हुजूर! मेरे लड़केके सिरमें दर्द है।

डाकर—मैं ठाकुर साइबको देखकर ग्रभी ग्राता हं। घबराग्री नहीं, सिर-दर्द तो मैं चुटिकयोंमें ग्रच्छा कर दूंगा।

(पूर्व-परिचित रईस ग्राते हैं)

रईस—डाक्टर साइब! मेरे लड़केके लिए कोई नया नुस्ला? डाक्टर—कोई नया नुस्ला नहीं। आपके लड़केको चय-रोग नहीं है। मैंने कल उसे समका दिया है। चय और मधुमेह (डायबिटीज़) आदि रोगोंमें बारह आना तो प्रका रहता है। मैंने कल उसका प्रका रफ़ा कर दिया है। अब वह अच्छा हो जायगा।

रईस—(खुश होकर) आपका मैं बहुत एहसानमंद हैं। डाकर—(मनमें) कानूनका एहसान मानिए।

स्थान—डाकरका शयनागार समय—शिक्ते भोजनोपरान्त।

डाक्टर—हे भगवान्! आपको अनन्त धन्यवाद है। आज मेरे महन्नेमं कोई बीमार नहीं हुआ। हे परमात्मा! मनुष्य-समाजसे तुम रोगोंको हटा लो। स्त्री—ग्राजकल ग्राप दिनभर घरसे बाहर रहते हैं। खाने-पीनेकी भी फ़िक्र ग्रापने छोड़ दी।

डाकर—आजकल दिनभर रोगोंसे लड़ता रहता हं। मैं चाहता हं कि एक भी रोग कहीं रह न जाय। एक घण्टा सबेरे एक घण्टा शामको मैं महन्ने लोगोंको जमा करके नीरोग रहनेके उपाय वताया करता हं। लोगोंके घरोंमें जा-जाकर मैं उनकी गंदगी हटवाया करता हं। कोई रोग शुरू होते ही श्रच्छेसे श्रच्छा इलाज करके मैं उसे निर्मूल कर देता हं।

ं धृत—पिताजी। अब आप विलायतसे दवाइयोंका पार्सल नहीं मंगाते। उसमें बडी सुन्दर-सुन्दर शीशियां और कोटे-कोटे बका आया करते थे।

डाकर—नये क़ानूनके सुताबिक अब सब दवाइयोंके दास सुमें अपने पाससे देने पडते हैं। अतएव जहांतक संभव होता है, मैं देशी दवाइयां ही काममें लाता हं। ये सस्ती भी होती है और ताज़ी होनेके कारण इनका असर भी जल्दी होता है।

कन्या—पिताजी। अब तो क्षेग, हैज़ा, दन्फ्लुएन्डा, मलेरियां, खांसी श्रादिके केस बहुत कम होते हैं। वे रोग कहां चले गये ?

डाकर—वेटी। ईखर करे, ये रोग हमारे महत्तेमें कभी न श्रावें। ये जहनुममें जायं। श्रव ये श्रायंगे तो हम भूखों मरने लगेंगे। (गहरी सांस खींचकर) हे भगवान्! मनुष्यमात्रको नीरोग करो।—

> सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भंद्राणि पश्चन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

अमर जीवन

[श्रीसुदर्शन (सं० १८५२ वि० वर्तमान)— इनकी कर्हा नयां खाभाविक श्रीर मनोरञ्जक होती हैं। इनकी कर्हानियोको पढनेसे गदाकाव्यका श्रानन्द श्राता है, श्रीर हनमें हर प्रकारकी मनोहित्तका श्रद्धा श्रध्ययन मिलता है।]

(8)

बाब् इन्द्रनायके क्लममें जादू या। (जब लिखने बैठते, साहित्य-सुधाकी धाराएं वह निकलतीं; जैसे पहाड़ोंसे मीठे जलकी निदयां फ्ट निकलती हैं। उनकी उमर श्रधिक न थी! ज्यादासे ज्यादा पचास सालके होंगे। सगर उनकी कविता श्रीर कल्पना देखकर जी खुश हो जाता था। साधारणसे साधारण विषय भी लेते तो उसमें जान डाल देते। उनके निबन्ध पढ़कर लोग मंत्र-सुग्ध हो जाते। कहते—"मन मोह लेता है। उनकी उपमाएं कैसी सन्दर हैं, शब्द कैसे मधुर हैं, पाठक किसी दिव्यलोकमें पहुंच जाते हैं। यही जी चाहता है, पढ़ते ही रहें कभी बस न करें।" उनकी रचनामें मनोरन्जन, सौन्दर्थ, मोहिनी, सब कुछ था, श्रीर सबसे वढ़कर सादगी थी। वे अपने पाठकोंपर बड़े बड़े कठिन शब्दोंसे रोब न डालते थे। यह ढंग उन्हें कभी पसन्द न त्राता था। जो कुछ कहना होता, सादे और सरल शब्दोंमें कह देते, और यही उनका सबसे बड़ा गुण था। एक वर्ष पहले लोग उनके नामसे भी परिचित न थे, और आज हिन्हीं के बेवमें कोने कोनेमें उनके नामका डंका बजता है। कोई छोटेंसे छोटा भी ग्राम ऐसा न

होगा जिसमें 'भाव-सुषमा' श्रीर 'सोम-सागर' की एक दो प्रतियां न हों। इन ग्रन्थरत्नोंको जो पढ़ता, उसीपर जादू हो जाता।

परन्तु इन्द्रनाथकी श्रार्थिक दशा संतोषजनक न थी। इतनी सिर-पची कर्रनके बाद भी उनको इतनी श्राय न होती थी कि चिन्ता-रहित जीवन बिता सकते। प्रायः दुखी रहते, श्रीर अपने देशकी शोचनीय दशापर रोया करते। किसे ख़्याल था कि उनके प्रान्तका सबसे बड़ा लेखक, सबसे प्यारा किवराज पैसे-पैसेकी सुहताज होगा। उनका प्रकाशक कमाता था, वे भूखीं मरते थे। संसारका यह दुर्थवहार देखकर उनका दिल ख़हा हो जाता, श्रीर कभी कभी तो इतने जोशमें श्राजाता कि लिखे-लिखाये लेख फाड़ डालते, लेखनी तोड़ देते, श्रीर कहते—''श्रव लिखनेका कभी नाम न लूंगा।'

(2)

प्रातः काल था। इन्द्रनाथ धूपमें बैठे एक मासिक पित्रकाके परे उत्तरते हुए मुस्करा रहे थे। उनकी खी मनोरमान पूका—क्यों? क्या है, जो इतने खुश हो रहे हो?

इन्द्रनाथने मनोरमाकी तरफ़ प्रेम-भरी दृष्टिसे देखा श्रीर उत्तर दिया—भाव-सुषमाकी समालोचना है। बहुत प्रशंसा की है।

मनोरमाने मनमें उद्गारकी गुदगुदी होने लगी। ज़रा आगे खिसककर बोली—प्रशंसा करते है, समभते ख़ाक भी नहीं।

दुन्द्रनाथ-अरे।

मनोरमा—भूठ नहीं है। यहांके लोग मूर्ख हैं, तुम्हारी कृद्र क्या जानें। भैंसके आगे वीणा बज रही है।

इन्द्रनाथ—मेरी रचनाके गुण दोष समभनेवाले वास्तवमें थोड़े

हैं। सारे ग्रहरमें केवल एक व्यक्ति है, जिसे इन बारीकियोंका ज्ञान है।

मनोरमा-कौन ?

दृन्द्रनाथ —तुम्हें डाइ तो नहीं होगा। वह एक सी है, पर ऐसी योग्यता मैंने किसी पुरुषमें भी नहीं देखी।

मनोरमाको कुछ सन्देह हुआ। घीरेसे बोली-कीन है ?

इन्द्रनाथ—श्रीमती मनोरमा देवी रानी। तुमने भी नाम तो सुना होगा।

मनोरमाने इंसकर मुंह फेर लिया और बोली—जाओ, तुम तो इंसी करते हो।

इन्द्रनाथ—नहीं मनोरमा । वास्तवमें मेरी यही समाति है। मनोरमा—बस, कोई बनाना तुमसे सीख जाय।

दुन्य -- मेरी हिमात तुम न बढ़ातीं तो मैं इतनी उन्नति कभी न करता।

मनोरमा-बड़ी पण्डिता ह्रं न ?

इन्द्रनाथ—यह मेरे दिलसे पूछो। सोना अपना मूख नहीं जानता।

मनोरमा—मगर तुम खुशामद करना खूब जानते हो। इन्द्रनाथ—समालोचना सुनोगी ?

मनोरमा-सुनात्रो।

इन्द्रनाथने पढ़ना आरम्भ किया—"भाव-सुषमा हमारे सामने है। हमने इसे पढ़ा और क़ई दिनतक मनप्र नशा सा छाया रहा। ऐसा प्रतीत होता है मानों हम किसी अन्य लोकमें आ पहुंचे हैं। इसमें सीन्द्र्य है, इसमें सादगी है। इसमें खाभाविकता है, इसमें कल्पना है। इसमें माधुरी है, इसमें सरलता है। श्रीर क्या कहें —इसमें सब कुछ है।"

सहसा किसीने नीचेसे आवाज दी-"बाद् इन्द्रनाथ।"

इन्द्रनाथ श्रीर मनोरमा दोनों चौंक पहें, जैसे किसी सुमधुर संगीतके बीचमें कोई ऊंची श्रावाज़से रोने लग जाय। उस समय रोगीके दिलपर क्या गुज़रती है, यह वही समभता है। वह सुंभला उठता है, लड़ने-मारनेको तैयार हो जाता है।

बाबू इन्द्रनाधने पित्रका चार्पाईपर रख दी, श्रीर नीचे गए। वापस श्राये, तो उनका चेहरा उदास था श्रीर श्रांखोंमें श्रांस् लहरा रहे थे।

मनोरमाने पूछा—कीन था १ इन्द्रनाथ—मकान-मालिक था।

सनोरमाका मुंच पीला हो गया। दुखी होकर बोली—क्या कहता था, यह तो दुरे ढङ्गसे पीछे पड़ा है। चार दिन भी सब्र नहीं करता।

इन्द्रनाथ—कहता है, अब तो नालिश ही करनी पड़ेंगी। मनोरमा—कितना किराया है ? तीन महीनेका ?

जब हमारे पास रूपया नहीं होता तब हम हिसाब नहीं करते। हिसाब करते हुए हमे डर लगता है। इन्द्रनाथने मनोरसाकी बातको अनसुना कर दिया और कहा—जी चाहता है कोई नीकरी कर लूं। अब यह रोज़ रोज़का अपसान नहीं सहा जाता। प्रशंसा करनेको सभी हैं, सहायता करनेको कोई भी नहीं। और खाली प्रशंसासे किसीका पेट कब भरा है।

मनोरमाने अपने पतिकी और देखा और कहा-कर देखो!

मगर तुम्हारा यह लिखनेका चसका तो न छ्टेगा। यह भी दूसरी शराब है।

इन्द्रनाय—हुआ करे, छोड़ टूंगा। तुमने सुभी समभा ही नहीं।

मनोरमा—खूब समभती हं। दफ़रमें काम कर सकोगे? इन्द्रनाथ—पैसे मिलेंगे तब क्यों न करूंगा? मनोरमा—अफ़सरोंकी भिड़िक्यां सह सकोगे?

इन्द्रनाथ--मनान-मालिनने तगादोंसे तो जान बचेगी।

सनोरमा—यदि किसीने कह दिया—अरे! ये तो वही किवराज हैं जो साहित्य-चेत्रमें इतना प्रसिद्ध हैं। हमने समभा था, कोई बड़ा आदमी होगा, पर यह तो साधारण सुन्शी निकला। तब?

इन्द्रनाथ—मैं समसूंगा, किसी श्रीर को कहते है। श्रव श्रीर क्या करूं! प्रकाशकोंने तो मेरे परिश्रमपर डाका मारनेका निश्रय कर लिया है। कहते हैं, जब कोई ज़्यादा न देगा तब मखमारकर हमारी शतें खीकार करेगा। वे क्पयावाले हैं, क्पयेका मूख समभते हैं, कलाका मूख नहीं समभते। ऐसे खार्थी सभी क्या दे सकेंगे। योरपमें होता तो सोनेका महल खड़ा कर लिया होता। यहां श्रपने भाग्यको रो रहे हैं।

मनोरमा—तुम अपना दिल छोटा न करो। सब ठीक हो जायगा।

इन्द्रनाथ—तो श्राज जार्जं, लाला रंगीलालसे मिल श्राजं। मेरा दिल कहता है, काम बन जायगा। बड़े सज्जन हैं।

मनोरमा—ज़रा तारीफ़ कर देना। बड़े श्रादमी दो बातोंसे ही खु.श हो जाते हैं। इन्द्रनाथ—मुभे इस तरह पढ़ानेकी ज़रूरत नहीं।

मनोरमा—यह काम हो जाय, तो समभें गंगा नहा लिया।

इन्द्रनाथ—उनका तो बहुत अधिकार है, चाहें तो आज ही
नीकरी दे दें। छठो, कपड़े बदलवा दो। बहुत मैले होगए हैं।

मनोरमाने उठकर सन्दूक खोला, श्रीर कपड़े देखने लगी, परन्तुं कपड़े धुलकर नहीं श्राय थे। मनोरमाके हृदयपर दूसरा श्राघात लगा। उसका मुंह हार्दिक वेदनासे पीला पड़ गया। यह वहीं प्रसन्न-बदन, वहीं प्रपुद्ध-हृदय मनोरमा थी, जिसके कहकहोंसे सारा मुहद्धा गूंजता रहता था, पर इस समय वह कितनी श्रशान्त, कैसी उदास थी। पंछी कभी फलकी डालियोंपर बैठकर किलोलें करता है, कभी पंख समेटकर चुप-चाप श्रपने घोंसलेमें बैठ जाता है।

इन्द्रनाथने ठंडी याह भरी, ग्रीर कहा—मनोरमा। यब नहीं सहा जाता।

(यह वही प्रतिभा-सम्पन्न, वही सुप्रसिष्ठ लेखन है, जिसकी काविता देशके कोने कोनेंगे आदर-समानसे पढ़ी जाती है, जिसकी लेखनीकी रचनायें पत्थर-दिलोंको भी मोह लेती है, जिसकी ग्रब्द-रचनाको लोग तरसते हैं, जिसका नाम सुनकर लोग श्रदा-भावसे गरदन भुका देते हैं, जिसके ग्रन्थ दुष्टात्माओं लिये धर्म-उपदेशोंसे कम नहीं। आज वही पचास रुपयेकी नौकरी करने चला है,। काव्य, कल्पना और कलाकी नगरीका राजा भीखा मांगने निकला है।

मनोरमाने अपने पतिकी वह हीन-दशा देखी, तो आह मारकर ज़मीनपर वैठ गई। इस समय उसके हृदयमें एक ही विचार था— यह सिर किसीके सामने कैसे भुकेगा ?

(衰)

एक घंटे के बाद इन्द्रनाथ पे-श्राफ़िसके सुपरिंटेंडिस्ट लाला रंगीलालके दफ़्रमें थे। लाला रंगीलाल एक पुस्तक पढ़ रहे थे। उन्होंने बहुत तपाकके साथ उठकर इन्द्रनाथसे हाथ मिलाया, श्रीर माफ़ी मांगते हुए कहा—सुभे केवल पांच मिनटकी श्राज्ञा दीजिये।

यह कहकर लाला रंगीलालने सामने पड़ी हुई कुरसीकी तरफ़ दशारा किया, श्रीर अपनी पुस्तक पढ़नेमें लीन हो गये। दन्द्रनाथको यह व्यवहार अत्यन्त लव्जा-जनक मालूम हुआ। उनको ऐसा मालूम हुआ जैसे किसीने खुल्लम-खुल्ला निरादर कर दिया हो। उनका चेहरा तमतमा उठा। ख्याल आया, कैसा असभ्य है। इसे अपने समयका ख्याल है, हमारे समयकी परवा नहीं। श्रीर यदि अभीसे यह दशा है तो नीकर हो जानेके बाद तो शायद द्वारपर प्रतीचा करनी होगी।

इन्द्रनाधने उठनेका संकल्प किया, मगर एकाएक मकानमालिककी अग्निम्ति याद आगई। क्या फिर बही आंखें देखूंगा ?

क्या फिर वही धींस सुनूंगा ? इन्द्रनाथ चुपचाप बैठ गये,
जैसे ह्वामें उड़ते हुए काग़ज़ींपर कोई लोहेका टुकड़ा धर दे।
इन काग़ज़के टुकड़ोंकी लोहेके सम्मुख क्या शिक्त है। आत्माको
प्रक्तिने दबा लिया। यह प्रतीचाका समय इन्द्रनाधके लिये
आत्मिक यन्त्रणाका समय था। और जब लाला रंगीलालने
पुस्तक समाप्त कर ली तब इन्द्रनाधको ऐसा मालूम हुआ,
जैसे कमरेमें हवाका अभाव है, और उनका दम धटा जा

रहा है। मगर रंगीलाल अपनी पढ़ी हुई पुस्तक धानमें तन्मय थे। थोड़ी देरतक वे योगकी सी अवस्थामें आंखें बन्द किये पड़े रहे, फिर बडबड़ाने लगे—वाह वाह। क्या कहना! कितने जंचे विचार हैं, कैसे पविच भाव!!

इन्द्रनाथ उनकी ग्रोर श्रांखें फाड़कर देखने लगे कि ये कहते क्या हैं ? रंगीलालने मेज़पर भुक्कार कहा—फ़रमाइये जनाब-! क्या हुका है ?

इतनेमें कमरेका द्वार खुला, बड़े साहब हाथमें टोप लिये हुए अन्दर आये। लाला रंगीलाल खड़े हो गये।

"गुड सानिंग।"

"गुड मानिंग। यह पुस्तक कैसा है ?" रंगीलाल—"बहुत बढ़िया।"

साइबने पुस्तक एक हाधमें लेकर दूसरे हाथसे उसके पत्ते उत्तरि हुए कहा—टो श्रापको बहोट श्रचा मालूम हुआ।

्रंगीलाल—अच्छाका सवाल नहीं, मैंने ऐसी पुस्तक हिन्दीमें आजतक नहीं देखी।

साहब—इटना अचा है ?
रंगीलाल—पट्नेपर मज़ा मिल गया।
साहब—इंग्लिश्में किस किताबके माफ़िक है ?
रंगीलाल—यह मैं नहीं जानता, पर पुस्तक बहुत अच्छी है।
साहब—हामा है क्या ?
रंगीलाल—नहीं साहब। 'पोयट्री' है।
साहब—हिन्दीका पोयट्री क्या होगा। 'रिवश' होगा।
रंगीलाल—यदि आप पट सकते तो ऐसा कभी नहीं कहते।

सहसा इन्द्रनाथकी दृष्टि पुस्तकके कवरकी तरफ गई, तो वे चौंक पड़े। वह पुस्तक 'भाव-सुषमा' थी। उनका मनमयूर नाचने लगा। उनका दिल गुलाबकी फूलकी समान खिल गया। वे अब इस दुनियामें न घे, किसी और दुनियामें घे। उन्हें अब इस तुच्छ, निक्षष्ट, नम्बर दुनियाकी मोहनी माया—दीलत—की परवा न थी । सोचते थे, दीलत क्या है ? ग्राती है, चली जाती है। यह उड़ती-फिरती चिड़िया है, जिसे पिंजरेमें बन्द रखना श्रसमाव है। मेरे पास धन नहीं, धनवान् तो हैं। इस श्रादमीके दिलमें मेरा कितना मान है, कैसी भक्ति-भावना है ? पुस्तककी श्रोर इस तरह देखता है, जैसे कोई भक्त अपने उपास्य-देवकी त्रीर देखता हो। पढ़ता था तब त्रांखें चमकती थीं। सुभी इस दशामें देखेगा तो क्या कहेगा? चौंक उठेगा। चिकत रह जायगा। उसे श्राशा न होगी कि मैं भिखारी बनकर उसके सामने हाथ पसारूंगा, और मैं—मैं उसके सामने आंखें न उठा सर्कृंगा। बज्जासे भूमिमें गड़ जार्ज गा। सुभी नौकरी मिल जायगी-पर श्रात्म-गीरवकी दीलत जाती रहेगी। यह सीदा महंगा है। लोग श्रात्म-गौरवकी खातिर सर्वेख लुटा देते हैं। क्या मैं चांदीके कुछ सक्षोंने लिये इस अमोल धनसे शून्य रह जाऊंगा? नहीं, यह भूल होगी। मैं यह भूल कभी नहीं करूंगा।

यह सोचकर इन्द्रनाथ धीरसे उठे, श्रीर द्वार खोलकर बाहर निकल गये। इस समय उनके मुंहपर श्राध्यात्मिक श्रामा थी, जो इस श्रमार संसारमें कम ही दिखाई देती है। उनकी श्रांखोंमें श्रात्म-सम्मानकी ज्योति जलती थी, दिलमें खर्गीय श्रानन्दका सागर लहरें मारता था। पहले श्रात्माको प्रक्षतिने प्रकाड़ा था, श्रव प्रक्षतिपर आत्माने विजय पायो। इन्द्रनाथमें वही सन्तोष था, वही त्याग, वही संयम, वही वैराग्य, जो संन्यासियोंकी सम्पत्ति है, जिसके लिये योगी जंगलोंमें भटकते फिरते हैं। घर पहुंचे तब ऐसे प्रसन्न थे, जैसे कुवेरका धन प्राग्ये हों। मनोरमा बोली— मालूम होता है, काम बन गया।

इन्द्रनाथ-आशासे भी अधिक।

मनोरमा—परमात्माको धन्यवाद है कि उसने हमारी सुन ली। क्या महीना तय हुआ ?

इन्द्रनाथ—कुछ न पूछो। इस समय मेरा दिल बसमें नहीं है। मनोरमा—अरे! तो क्या मुक्ते भी नहीं बताओंगे?

दन्द्रनाथने मनोरमाको सारी कहानी सुना दी, श्रीर श्रन्तमें कहा— मनोरमा। मुर्भ नीकरी नहीं मिली, पर श्रात्म-ज्ञान मिल गया है। मेरे ज्ञान-चन्नु खुल गये हैं। मैं श्रपने श्रापको भूला हुश्रा था, श्राज मेरे हृदय-पटसे परदा उठ गया है। मुर्भ मालूम हो गया है, कितकी पदवी कितनी महान्, कैसी उच है? वह दिलोंके सिंहासनपर राज्य करती है, वह मोती हुई जातिको जगाती है, वह मरे हुए देशमें नवजीवनका सञ्चार करती है। दुनिया श्रपने लिये जीती है श्रीर श्रपने लिये मरती है, मगर कितका सारा जीवन उपकारका जीवन है। वह गिरे हुए उत्साहको उठाता है, रोती हुई श्रांखोंके श्रांस् पोंछता है, श्रीर निराश्वादियोंके सम्युख श्राश्वाका दिव्य दीपक रोशन करता है। दुनियाके लोग उत्पन्न होते हैं श्रीर मर जाते हैं, पर ऐसे जाति-निर्माता सदा ज़िन्दा रहते हैं, उन्हें कभी मौत नहीं श्राती। मैंने नौकरी नहीं ली, यह श्रमर जीवन ले लिया है। मनोरमा। मेरा हाथ थामो,

मेरी सहायता करो। इसमें सन्देह नहीं, तुम्हें कष्ट होगा, पर इसकी बदलेमें जो श्रात्मिक श्रानन्द, जो सबा सुख प्राप्त होगा उसका सोल कौन समभ सकता है?

मनोरमाने अहा-भावसे अपने पतिको ओर देखा, और प्रेमसे भुजायें फैला दीं।

घोड़े की जीवनी

[पाखेंय वेचन शक्ता 'छगं (सवत् १६५८ वि०-वर्षनान)—ये किन कहानी छेखक और स्वारकार हैं। इनकी कहानिया सुन्दर होती हैं। इनकी भाषा-शेली और रचना-क्रममें विशेषता है जो इनकी अपनी कही जा सकती है।]

"तुम मनुष्य हो? मनुष्योंका दावा है कि सारी आदमीयत उन्होंकी सम्पत्ति है। प्रेम, दया, करुणा, मांवुकता जितने कोमल कि साव है, सबके खामी वे ही है। पर, बताओं तो, तुमने कभी हमारे दुखोंकी ओर भी देखा है? कभी यह सोचनेका कह भी छठाया है कि हम अभागे पश्चीं पर तुन्हारी लगामे क्या बीतती है? हम तुन्हारी गुलामी कर, तुन्हारे इशारोंपर नाच कर, तुन्हारे जिये छून पसीना कर—पुरस्कारमें क्या पाते हैं?

हो। पर, सच वताना, तुमने कभी हमारी गुलामीका, परवशताका, विवशताका और दास्यजन्य कष्टोंका ध्यान किया है? भयद्वर ग्रीममें, जब कि तुम खसकी टिट्टियोंमें, विजलीके पंखोंकी सहायता पानिपर भी, 'हाय! हाय!!' करते रहते हो, तुन्हारे गुलाम, अभागे

घोड़े प्रचण्ड-मार्तण्डकी अग्नि-किरणोंसे युद्ध करते रहते हैं।
प्रलयद्धर-पावसमें, जब कि तुम बारहदिरयामें बैठकर वर्षाकी बहार देखते हो, अधिकसे-अधिक सुख पानिकी चेष्टा करते हो तब, तुम्हारे हाथों बिके घोड़े, पसीनेंसे सराबोर होकर, नत-मस्तक, कम्पित कलेवर, एक सडकसे दूसरी और तीसरीसे चौथी गलीका कीचड़ छानते हैं। सच बताना। उस समयकी हमारी पराधीनता तुम्हारे हृदयपर कुछ चोट पहुंचाती है १ तुम्हारी मनुष्यता उसे देखकर कांपती है १ तुम्हारी दया उमड़ती है १ करूणा पूटती है १ में समभता हं, नहीं। तुम पत्थर हो, निर्देय हो, खार्थी जन्तु हो, राचस हो। तुम अपनेको सनुष्य कहकर देवी मानवताका अपमान न किया करो।

3

"गोरखपुर जिलेंके एक देहाती वैद्यंकी सेवामे मेरी माताके सुखके, पांच वर्ष बीते थे। तुम्हारे (मनुष्योंके) सुखसे हमारा सुख कहीं छोटा होता है। तुम्हारा सुख संसारको लूटकर भी सुखी नहीं होता। पर, हमारा छोटा सुख भरपेट भोजन, वह भी कोरा चना, घास और थोड़ा कम परिश्रम पर ही 'बस' हो जाता है। मेरी मांको उक्त वैद्यराजके यहां यही सुख था। वैद्यंजीन मांको गुलामीकी हाटसे बीस रुपयेंसे खरीदा था। बीस रुपयोंमें ही श्रख-जगतका एक जीव सदाके लिये गुलामीकी जंजीरमें बांध दिया गया।

"वैद्यजी ग्रपनी गुलाम घोड़ी(मेरी मां)को सालमें कम-से-कम दो महीने मंगनीमें दिया करते थे। शेषमें एक गांवसे दूसरे गांव

जानेके समय, मांकी पीठपर कुम्भकर्णकी तरह खूल श्रीर लम्बोदरकी तरह तींदवाली वैद्यराज श्रासीन होते। मांका साधारण कद ग्रीर साधारण ही ग्ररीर था। वैद्यजीका बोभ-जो तीन मनसे किसी भी हालतमें कम नहीं था—मांके लिये आवश्यकतासे अधिक था। उनके उछलकर चढ़ बैठते ही बेचारी मां धनुषकी त्रह भुक् जाती थी और लम्बी सांस लेने लगती थी। फिर भी. मुखमें पड़ी इर्द कांटेदार लगाम और वैद्यजीन हाथमें सुशोभित विकट दण्डके भयसे गजकी तरह सरल-प्रकृति होकर मांको निश्चित स्थानतक जाना पड़ता था। मांने एक दिन प्यारसे मेरा सिर सूंघते-सूंघते जब यह नहा नि—'बेटा, तू सुभ गुलामकी गाढ़ी कमाई है। तेरे जनासे पन्ट्रह दिन पूर्वतक वैद्यराज सुक्षे सवारीमें लेते घे और मेरे गर्भधारण कष्टको चरम सीमापर पहुंचाते घे।'— तब मारे ग्लानिके मेरी आंखाँसे आंस् निकल आये, मारे क्रोधके मेरे कान खड़े हो गये!! मैंने हिनहिनाकर कहा—'श्राने दो दुष्टको । मारे लित्तयोंके...। युक्त रोकते हुए माने समभाया— 'तू गुलाम है। गुलाम क्रोध नहीं कर सकते। चापलुसी श्रीर नतमस्तक होकर खामीकी आज्ञाका पालन ही उनका परम कर्तव्य है।' मान श्रीर भी कहा—'फिर भी, हमें बड़ा सुख है। देहातमें रहनेके कारण और वैद्यराजकी दासी होनेके कारण, भर पेट हरी-हरी घास तो मिल जाती है। सेर आधसेर चने तो मिल जाते हैं। र्दुखरकी क्षपा है कि, हम किसी बनारसी एक्केवानके हाथमें नहीं पड़े। नहीं तो, यमराज भूल जाते। नरक तुच्छ जान पडता। इमें यहां बड़ा सुख है। ईखरसे प्रार्थना कर कि, इसी बोढ़ीपर हमारे दास्यमय जीवनका अन्त हो।' मांकी बात सुनकर मैंने एक लम्बी सांस ली। ग़लामं अपनी विवश्तापर इससे अधिक कर ही व्या सकता है।

"पापी मनुष्य है तेरी खार्थ-प्रियताका स्पष्ट चित्र हम मूक पश् हो, अपना हृदय चीरकर, दिखला सकते हैं। तोतिको बिधकों हारा बन्दी बनाकर, लोहें के पिंजडें में डालकर, उनकी मीठी आवाजके लिये, तू हो तो उन्हें ज़हरकी तरह 'मिरचे' खिलाता है। गऊ जब अपने प्यारे बक्छें को अपना स्तन-पान कराना चाहती है तब तू हो उस गो-शावकके अंशपर हाथ साफ करता है। फिर, बढ़ी हो जाने पर—कहते हुए पश्चताको भी ज़बान लहखड़ाती है—उस बेचारी गऊको तूही तो चार पैसोंके लिये, हाथको मलके लिये, कसाइयोंके हाथ वेच देता है। तेरे डच्छे खाकर, अपना रक्ष सुखाकर, जो बेल तेरी खेतिहरी करता है उसे तूही तो, बढ़ होने पर, मार-मार कर, राचसोंके हाथ, राचसोंका पेट भरनेके लिये, बेच देता धिक्कार भी तेरे नामसे प्रणा करता है।

"मेरी मांकी उमर ढलते देख, खार्थी वैद्यंने उसे वेच देनेका निश्चय किया। मेरी मांको और मुक्ते भी बैद्यंके उक्त निश्चयका कुछ भी पता न था। वह तो, जब एक दिन घोड़ोंका व्यापारी हमें वैद्यराजके थानसे खोलकर से चला तब मालूम हुआ। वैद्यजीने - हम दोनोंको वेचकर अपने पुराने बीस रुपये लौटा लिये। उनकी समभसे हमारी पांच वर्षी की सेवा उन्हें मुफ़्तमें ही मिली।

"इधर व्यापारीके साथ एक दुर्बल श्रीर बूढ़ा घोडा श्रीर था

उसने जब देखा कि व्यापारी हमें भी ख़रीद रहा है तब हिनहिनाकर अपनी भाषामें कहा—'तुम्हारे भाग्य फूट गये। यह
राचस, जो तुम्हें ख़रीद कर ले जाना चाहता है, घोड़ोंका व्यापारी
है। तुम अपना थान न छोड़ो।' उस घोड़ेकी बात सुनकर मां
रोने लगी। उसने व्यापारीको देखकर उछलना कूदना और पैर
फटकारना भी आरम्भ किया। पर, सब व्यर्थ। ख्यं वैद्यराजने,
मोटे डखेकी सहायतासे, प्रहार-पुरस्कार देकर, हमें अपने थान
परसे हटा दिया। इस लोग रेलके डब्बोंमें भरकर 'हरिहरचेत्न'के
मेलीमें लाये गये।

''तुमने केवल इतिहासोंमें, या 'ऋलिफ़लेला'में पढ़ा होगा कि, किसी समय एक देशके लोग दूसरे देशके लोगोंको गुलाम बनाकर, कुछ रूपयोंपर बाज़ारमें बेचते थे। पर, हमने उस अय-विश्रयका ऋर नाटक खर्य देखा है। उस दुःखका ऋनुभव प्राप्त किया है। यर हां, उसमें मनुष्य मनुष्यके प्रति नहीं, ऋपने बराबरी वालींसे नहीं; पर, अपनेसे कहीं दुर्बल, असभ्य, मूक पश्रश्रोपर श्रत्याचार करते थे (अभी करते ही हैं।)। उस गुलाम-बाज़ारमें कई हज़ार गुलाम घोडे पंक्तियोंमें खड़े घे। प्रायः सबकी अगाड़ी-पिकाड़ी कसी थी। बहुतोंके मुखपर 'तोबड़ें' भी बंधे थे। मैं भी अपनी मांके साथ एक स्थानपर बंधा था। इस दोनों अपने-अपने भविष्यत्की सुन्दरताके लिये भगवान्से प्रार्थना कर रहे थे श्रीर कर रहे थे यह कामना कि इस दोनों एक ही आदमीके हाथ बिकें। यर, कर्ताकी कुछ श्रीर ही दच्छा थी। मेरा ग्राहक—नहीं नहीं— मेरे प्राणींका ग्राहक ग्रा पहुंचा। उसका भयद्वर चेहरा कह रहा था कि वह कोई एक्केवान है। उसने पहले सुभी दूरसे देखा, फिर

निकट आकर मेरे पांवकी ओर दृष्टि की। इससे उसका यह जाननेका अभिप्राय या कि में 'दोखी' तो नहीं हं। मनुष्योंकी ज़बर्दस्ती तो देखो, ब्रह्माके दोषको हमारा दोष समभते है। तीन ही पैर लाल क्यों हुए १ दोषी है। पूंछ छोटी क्यों हुई १ गर्दन ऊंची क्यों नहीं है १ दोषी है। वाह री मनुष्य जाति।

"ख़ैर, सुभामें, मेरे श्रभाग्यसे, वैसा कोई दोष नहीं था। श्रतः एक्केवानने व्यापारीसे पूछा—

'कितने दिनोंका बचा है जी ?'

'श्ररे भाई। इसे बचा क्यों कहते हो ? यह तो साढ़े पांच वर्षका पहा है। खरीदते ही सवारी देने लगेगा।'

'मुक्ते सवारी तो करना नहीं है। एक्रेमें निकालना है। ख़ैर इसकी चाल तो दिखाओ।'

"व्यापारीने मुक्ते मेरी माताके पार्श्वसे हटाया। आह। मैं क्या जानता या कि, यही हटना हमेशाके लिये हटना होगा। पर, मेरी अभागिनी मां समक्त गयी। वह हिनहिनाकर रोने और पगहा तुड़ाने लगी। पर व्यापारीके क्रूर प्रहारके सम्मुख उसकी एक भी न चली। व्यापारीने कुछ दूरतक मेरी पीठपर बैठकर मुक्ते दौड़ाया। कुछ दूर एक्नेवानने भी दौड़ाया। तीस क्पयोंमें सीदा पट गया। वह एक्नेवान क्पये देकर मुक्ते के चला। हाय, उसी वक्त तो वह ज़ोरसे चिक्तायी थी। मेरी सांने कहा—

ं ('चलो वेटा! हायरी गुलामी, गोया जान्वरींको हृदय होता ही नहीं। वेटा! एक बार मेरे पास श्राश्रो

ं "मैं मांकी श्रोर बढ़ा, पर, रोक बिया गर्या। एक्केवानने मेरी

पीठपर एक डच्डां जमाकर दूसरा ही रास्ता देखनेको कहा। डधर मेरी मां व्यय होकर उछल रही थी! प्राण छोड़कर हिनहिना रही थी। जब उसने देखा कि एक वान ज़बरदस्ती सुमें मार की सहायतासे, घसीटे लिये जा रहा है तब वह सहन न कर सकी। बन्धन तोड़ाकर मेरे पास आयी और लगी प्रेमसे मेरा शिर सूंघने!!

"उस त्रोर बाज़ारमें हता मच गया। 'जानवर भागा! घोड़ी भागी!! पकड़ो! रोको!! दसपांच ग्रादमी डण्डे लेकर मांके पीक्षे पड़ गये। त्रभागिनीने मुक्ते ग्रांखभर देखा भी नहीं, जीभर प्यार भी नं कर सकी ग्रीर लगी डण्डे खाने-! निर्देय खार्थ! —पापी मनुष्य!—दु:खद दास्य!

8

"में दुःख ही का ग्रास बननेके लिये पृष्टीपर श्राया था। तभी तो वह एक्षेवान बनारसी निकला! वह काशीके भद्देनी महालका एक श्रत्यन्त गरीव, श्रत्यन्त मूर्ख श्रीर श्रत्यन्त क्रूर मनुष्य है। उसके पिरवारमें एक कोटा भाई, तीन बच्चे, खी श्रीर उसकी बढ़ी मां हैं। उन सबका पेट भरनेवाला वही है। उसमें श्रीममानिनी मनुष्य-जातिके श्रीर भी श्रनेक गुण हैं। वह पक्षा जुश्राड़ी, एक नम्बरका लम्पट श्रीर एक ही नश्रवाज़ है। एक तो गरीब, दूसरे कुटुम्बी, तीसरे फ़िजूलख़र्च। ऐसा ही खामी मेरी किस्मतमें लिखा था!

("तुम (मनुष्य) भर पेट खा लेते हो, नींदभर सो लेते हो, हंसते हो, पर भाई (चाहे तुम हमें भाई न समभो पर ईखरके यहांसे तो हम सब 'भाई'का सम्बन्ध जोड़कर ही श्राये हैं।) गुलामी क्या है, इसे तुम क्या जानो। उसके ज्ञाता हमीं हैं श्रीर उस ज्ञानकी प्राप्ति तुन्हारी मूर्खताकी क्रपासे होती है।

"डग्डोंकी सहायतासे पन्द्रह दिनींमें ही एक्केकी चालका ज्ञाता वनाकर जिस एके में मैं जोता गया वह अपनी उपमा आप ही था। ट्रेटी हुई छतरी, वांसका कमज़ोर 'वस', महीनेंमें चार वार निकल जानेवाला, नहीं नहीं, 'सवारी'को ज़मीन सुंघानेवाला पहिया, अस्मी वरसींका प्राना असवाव—सव कुछ अदितीय था। उसमें जो कुछ कसर थी उसे यहांकी सड़कें पूरी कर देती थीं। मैं वरावर, पांच बजे सवेरेसे दो वजे दिन और पांच बजे शामसे दो वजे राततक, इधर-से-उधर और उधर-से-इधर दौड़ाया जाता था। और ? और अठारह घर्ष्ट कठिन अम करनेवाले इस मज़दूरको सेरभर चने और एक छोटा गहर घासका मिलता था। पिट जैसे भरता था वह मैं जानता हं, पर परिश्रममें कभी कमी नहीं हुई! वही रफ़ार जो एक बार चली वह मेरे मरते दसतक चलती गयी।

'स्वामीको मेरे चलनेका और ज़रा भी अड़नेका जितना ध्यान रहता उसका पोड़शांश भी मेरे भोजन और जलपानका नहीं। डग्डे और चार्वक तो बात-बातमें मिलते थे। आह। क्या ही शक्छा होता यदि विधाताने हमारी खुराक 'मार' ही बनायी होती। पापी पेट तो भर जाता? अपमानसे तो बचता? पीठमें पीड़ा तो न होती?

"ज़बरदस्ती चीमुहानीपरके सिपाहीको एक या दो पैसे देनेके कारण स्वामीको जो क्रोध होता उसका दमन हमारी पीठ-पूजासे, होता! दारोगाके सिये वेगार जानेके कारण, कम पैसे मिलने या विलक्षल न मिलनेके कारण उत्पन्न हुआ चोभ मेरे मुंहमें कांटेदार लगाम गड़ाकर ही शान्त होता। (आन करे अपराध कोज आन पावै फलभोग'को तस्वीर, हमें दिनमें अनेक बार देखनेको मिलती। इन सब दु:खोंपर महादु:ख यह कि कोई अपना साथी नहीं, कोई अपने करण-स्वरमें स्हानुभूतिकी 'आह' मिलानेवाला नहीं। हायरे हमारा जीवन!!

y

"जिठका महीना था। मनुष्योंने लिये भयंकर गर्मी पड़ रही थी। सड़कों तवा हो रही थीं। मध्याक्रका सूर्य खोपडी चाट रहा था। पर मैं 'चावुक'ने दशारेपर मैदागिनीकी चीमुहानी पार करता हुआ कचहरीकी और दीड़ा जा रहा था। बड़े ज़ीरोंकी—ई खर गवाह है, बड़े ज़ीरोंकी प्यास लगी हुई थी। मेरा तालू चटक रहा था, कलीजा मुंहको आ रहा था, चमड़ेकी पिट्टियोंसे घिरी आंखें बाहर निकल जानेको तैयार थीं। फिर भी मैं बराबर दीड़ाया जा रहा था। निर्देय मनुष्य मेरी भाषा क्या जानें; भाव भी नहीं जानते। अपनी प्रार्थना सुनाने, कुछ दुच्छा प्रकट करनेके विचारसे मैं एक बार रका, पर, व्यर्थ! चावुककी मर्सस्पर्शी चोटोंने गरज कर कहां—'आगे बढ़ गुलाम।'

"'श्राज' श्राफ़िसकी श्रागे हमारे लिये पखरका एक होंज बना है। उसमें मैंने श्रनेक बार जलपान किया है, पर कभी श्रावश्यकता पड़नेपर नहीं। कभी घर्णों प्यासा रहनेके बाद वहां पानी मिला श्रीर कभी बिना प्यासके ही मालिकके मुखसे—'श्रवे पी ले! फिर पानी नहीं मिलनेकां।'—सुनकरं, श्रनिच्छांसे भी, वहांका गन्दा, गर्भ श्रीर श्रपवित्र जल पीना पड़ा था। पर्/ उस दिन मै तडप कर रह गया, श्रांखें ललच कर रह गयी, हृदय मचल कर रह गया, प्राण पुकार कर रह गये मुक्ते पानी नहीं पीने दिया गया। किसी तरह जगतगंजकी चीसुहानीके पास पहुंचा।

"टूरहोसे मैंने और मालिकने देखा, चौमुहानीके पास, बीच सडकपर, एक एका खडा था। उसका एक्केवान न जाने कहां था। तिसपर, टूसरी श्रोरसे हमारे एक्के श्रीर उस टसटमका इधर उधर होना श्रसकंव था। संयोग तो देखिये, चौमुहानी परका पुलीसमैन भी कहीं मर गया था—उसका भी पता नहीं था।

"टमटमपरके सवार कोई हिन्दुस्तानी बाबू जान पड़ते थे। उनसे पुलीसकी वह ग़फ़लत वरदाश्त न हुई। श्रायद वे जल्दीमें भी थे। उन्होंने ज़ोरसे पुकारा—

'सिपाची। यो सिपाची। कहां गया?'

'सिपाही किसी कोनेमें वहीं-पेटी उतारे गर्मीके नामपर दम तोड रहा था। एकाएक शासनका भयंकर खर श्रीर श्रपनी गृफ़लतको देखकर वह हडबडा गया। सामने श्राकर जो देखा कि सडक रोककर खड़े एक दिरद्र एक्केके कारण उसपर फटकार पड़ना चाहती है, तो, फ़ौरन डच्डा सीधा कर उस एक्केकी श्रोर भपटा। इधर उस एक्केका एकेवान भी, जो पेशाब करनेके लिये रुक गया था, लाल पगड़ीके डरसे दौड़कर एक्केपर डट गया श्रीर उसे श्राग बढ़ानेका उपक्रम, शीव्रताका नाट्य करते हुए, करने लगा।

"मगर परश्ररामका परश्र कभी व्यर्थ उठता है ? 'बदमाश! हरामज़ादे।' कहकर सिपाहीने एक्केवानकी ग़ुलतीके लिये उसके जानवरपर डग्डे बरसाना आरम कर दिया। एक दो नहीं, दस-बीस डग्डे उस अभागे जीवपर, बड़ी ही निर्दयतासे, पड़े! वह तिलिमिला उठा! इतनेहीसे समाप्त नहीं हुआ, उस एक्षेवानने भी उसे पीटपाटकर आगे बढ़ाना आरम किया। हाय। अभागे पश्रुओ! किस पापके प्रायक्षित्तके लिये तुम सत्युलोकमें, खासकर बनारसमें, घोड़ोंके रूपमें भेजे जाते हो?

"उस घटनासे जुब्ब होकर मैंने ईखरसे नरजातिके नाशकी प्रार्थना की और यह वरदान मांगा कि,—प्रभो। मरते-मरते मुभो एक बार युद्धखलका घोड़ा बना दो। मैं मनुष्य जातिका नाश देखकर अपने दु:खित आत्माको प्रसन्न करूंगा। उनके रक्तसे अपने पैर साफ़ करूंगा। पर, यह मेरी किस्मतमें कहां था?

* * * *

"थोड़ी ही दूर जानेपर मुभी अपनी जातिने उस जीवनो देखनेना सीभाग्य प्राप्त हुआ जिसपर चणभर पहले अत्याचार— राचसी अत्याचार—हुआ था। हाय। वह जीवं और नोई नहीं मेरी वहा माता थी! उसनी ठठरी-इड्डी दिखाई पड़ती थी। वह अविराम अश्रुपात नर रही थी।

('मरा भूखा, घ्यासा, भुलसा, घका, दुःखित, श्रपमानित तथा माताकी दुईशा देखकर पीड़ित पापी शरीर, मांके पास ही लड़खड़ा कर गिरा। मेरे जीवन नाटकका 'ड्राप-सीन' हो गया! खेल ख़तम हो गया!!")

रामायण (त्रयोध्याकाण्ड)के मुख्य पातोंपर धर्म-संकट श्रीर उनका निर्वाह

[वल्तभद्रप्रसाद मित्र (संवत् १८६१ वि०—वर्त्तमान)—प्रयाग विश्वविद्यालयसे एम० ए० की छिग्नी लिक्तर श्राप सम्पादन-कलाकी श्रोर भुके। विद्यार्थी होते हुए भी श्रखवारनवीसीको ही अपना ध्येय मानते थे। टैनिक तथा साप्ताहिक 'प्रताप'में कुछ कालतक रहकर सन् १८३४ ई०से दैनिक 'भारत'का सम्पादन करने लगे हैं। श्रापकी शैली श्रापकी किच एवं व्यवसायके अनुकूल ही सरल, स्पष्ट श्रीर खाभाविक है।]

रामचिरतमानसका सबसे उत्तम श्रंश श्रयोध्याकांड कहा जाता है। इस कांडकी दो विशेषताएं है। प्रथम तो इस कांडमें श्रन्य कांडोंकी श्रपेचा मानव हृदय तथा उसके भिन्न-भिन्न प्रकारके भावींका श्रिषक स्वाभाविक वर्णन मिलता है। दूसरी विशेषता यह है कि इस कांडमें प्रायः प्रत्येक मुख्य पात्रपर एक या श्रनेक बार धर्म-संकट (conflict of duty) पड़ा है श्रीर उसका बड़ा ही श्रच्छा निर्वाह हुश्रा है। पात्रोंके सामने दो विरोधी कर्तव्य श्रा जाते है श्रीर उन्हे उन दोनोंपर विचार करके श्रपना मार्ग निश्चित करना पड़ता है। यहां हम इस कांडकी दूसरी विशेषता श्र्यांत् पात्रोंके धर्म-संकट तथा उनके निर्वाहपर विचार करेंगे।

यह विचार करते समय कि असुक पावने जो अपना कर्तव्य निश्चित किया है वह ठीक है या नहीं, एक बड़ी कठिनाई हमारे सामने आ जाती है। यदि हम उनको धार्मिक अवतारी अथवा आदर्श्यपुरुषकी दृष्टिसे देखते हैं, तो हमारा निर्णय कुछ श्रीर ही होता है; श्रीर यदि हम उन्हें राजनीतिन दृष्टिसे देखते हैं तो हमारा निर्णय दूसरा होता है।

त्रयोध्याकांडमें सबसे पहले धर्म-संकट कैकेयों समुख उपस्थित होता है। वह रामका राज्याभिषेक सुनकर आनंद मनाये या उनको बन भेजकर अपने पुत्र भरतको राज्य दिलाये। यथार्थमें इसे हम धर्म-संकट नहीं कह सकते, क्योंकि यहां दो विरोधी कर्तव्य कैकेयोंके सामने एक साथ नहीं आते। इसे हम अइत विचार-परिवर्तन कह सकते हैं। फिर भी इस विचार-परिवर्तनपर विवेचना करना विषयान्तर न होगा, क्योंकि दोनों विचार हैं अलंत विरोधी।

मंथरा जब मुंह लटकाय रामके अभिषेकका समाचार कैंकेयोको सुनाने जाती है, तो कैंकेयो उसे उदास देखकर सबसे पहले रामको कुश्रल पूछती है और भरतकी उसके बाद। यथा—

('सभय रानि कच्च कच्चिस किन, कुसलु राम मिचपालु) लखन-भरत-रिपुद्मन सुनि, भा कुबरी उर सालु॥'

इसके बाद जब मंथरा बताती है कि रामको कल राज्य मिलेगा तो कैंकेयोको बड़ी प्रसन्नता होती है। वह कहती है—

> 'राम तिलक्ष जो सांचेष्ठ काली। देउं मांगु मनभावन त्राली।'

मंथरा कैकियोको अब यह समभाती है कि राजाने जान-बूभकर भरतको निन्हाल भेजा है और कीश्रत्याने रामको राज्य दिलानेका यह अच्छा अवसर सोचा है। यह बात भी कैकियोके हृदयमें रामके प्रति कोई विरोध उत्पन्न नहीं कर पाती, वरन् उसे चेरीका इस भांति समभाना बुरा लगता है। वह मंथराको आपसमें फूट करानेके लिए डांटती है—

> 'पुनि ग्रम काबहु' कहिस घर फोरी। तब धरि जीभ कढावीं तोरी।'

* *

'प्रानतें अधिक रामु प्रिय मोरे। तिनके तिलक छोभु कस तोरे॥'

यहांतक तो कैकेयोका चित्त ठीक रहता है और रामका तिलक होना ही उसे सर्वथा उचित दिखाई देता है; परन्तु इसके बाद मंथराका रूठकर यह कहना—

'श्रनभल देखि न जाइ तुम्हारा।' 'जर तुम्हारि चह सर्वात उखारी।' 'भामिनि भयउ दूध की माखी।'

श्रादि वातें उसका मन फेर देती है। वह रामकी पक्षी शतु हो जाती श्रीर कहती है—

> 'नैहर जनमु भरव बरु जाई। जियत न करब सवति सेवकाई।'

श्रव तो उसे केवल इतने ही से संतोष नहीं है कि भरतको राज्य मिले, वह यह भी चाहती है कि राम बनको श्रवश्य जायं। उसे श्रव रामके नाश ही में श्रपना सुख दिखाई देता है।

कैकेयोका यह निश्वय, चाई हम उसे किसी भी दृष्टिसे देखें, उचित नहीं जान पड़ता। यदि हम कैकेयोको एक उच्चकुलको स्त्री मानकर इसपर विचार करें, तो उसका यह निर्णय नितान्त अनुचित है। अपनी ही सौतने लड़ने रामको, जो उसे खयं अपनी मातासे अधिक मानता है, विना किसी अपराधने बनवास दिलाना भला कीन उचित कहेगा! राजनीतिक दृष्टिसे भी कैनेयीका यह कार्य अनुचित है। उसे विचार लेना था कि दशरथजी रामने बिना नहीं जो सकते तथा भरतको भी इससे प्रसन्ता न होगी। परन्तु जिस समय हमें यह स्मरण हो आता है कि कैनेयीकी 'गई गिरा मित फ़ेरि,' तो तुरन्त हो वह हमें निर्दीष जान पड़ती है और सारा अपराध भृवितव्यताने जपर चला जाता है।

दूसरा धर्म-संकट राजा दंशरथके सामने उपस्थित होता है। वह अपने प्राणोंसे प्यारे रामको, कैंकेयोको वचन दे च्कनेके कारण, बन भेजें अथवा उन्हें घर रखकर अपने प्रणको तोड़ दें। उन्होंने रामको तिलक करनेकी तैयारी यही जानकर की थी कि यह कार्य सबको अच्छा लगेगा। उन्हें खप्नमें भी यह ध्यान न आया था कि कैंकेयी राम-बनवासका वरदान मांगेगी, अन्यथा वह उससे कभी वचन-बड़ न होते। वह कैंकेयीसे कह रहे हैं—

'भामिनि भयेड तोर मनभावा। घर-घर नगर अनंद बधावा।'

परन्तु उसका मनभाया तो श्रव रामके बनवास ही में है। दशरथजी यहांतक राजी हो जाते हैं कि भरत ही युवराज हों। राम बन न जाने पायं, चाहे उनके प्राण स्वयं ही क्यों न चले जायं।

> 'मांगु माथ अबहीं देउं तोही। राम विरह जिन मारिस मोही।'

अन्तमं जब कैकेयी किसी भांति नहीं मानती, तो 'रघुकुल रीति सदा चिल आई। प्रान जाहिं बक् वचन न जाई।'

के अनुसार उसकी बात माननी पड़ती है। वह अपने वरदान देनेसे बड़े लिकात होते हैं—

'हृदय मनाव भीर जिन होई। रामिहं जाद कहै जिन कोई।'

द्रश्रायका यह निश्चय हमें तो उचित नहीं जान पड़ता। यद्यपि उन्होंने अपना वचन कैंकेयोको दे दिया था, तो भी वे उसका सब अवस्थाओं में प्रतिपालन करनेके लिए बाध्य नहीं थे। उन्होंने यह समभते हुए वचन दिया था कि कैंकेयो रामके विरुद्ध कभी कोई वरदान नहीं मांगेगो। रामको हो अपथ खाकर वचन देना इस बातका प्रमाण है—'भामिनि राम अपथ सत मोहीं।' यद्यपि यह रघुकुलरोति थो कि 'प्राण जाहिं वरु वचन न जाई' तथापि दूसरो ओर यह भी तो रघुकुल-रोति थो कि युवराज-पद सबसे बड़े पुत्र हो को मिले; अतएव राजा दशरथने जब रघुकुल-रोति तोडो हो, तो पहली रोति तोड देते, जिससे सब काम बन जाता। हम समभते हैं कि दशरथको उस विपत्तिके समयमें इस दूसरी रोतिका ध्यान न रहा होगा, नहीं तो वह ऐसा निश्चय कदापि न करते।

तीसरा धर्म-संकट रामचन्द्रजीकी सम्मुख उपस्थित होता है। उनका धर्म-संकट यह है कि वे पिताकी आज्ञा मानकर बनवास करें अथवा उसे अनुचित समभक्तर अयोध्यामें रहें और राज्य करें। आज रामचन्द्रजीको कुलगुरु विशष्ट उनके घर जाकर उन्हें उनके राज्याभिषेकको सूचना देते है, जिसे सुनकर उनका सहज ग्रुह स्वभाव उसमें ग्रनीचित्य पाता है। उनका स्वभाव उनसे यह कहलाता है—

> 'विमल वंश यह अनुचित एक् । अनुज विहाद बड़ेहिं अभिषेकू ।'

दूसरे ही दिन उनको एक बिलकुल विपरीत श्राज्ञा मिलती है। कैकियोकी श्राज्ञा पाकर सुमंत रामचन्द्रको राजा दशरथके पास बुलाने जाते हैं। कैकियोसे पूछनेपर उन्हें सब बात मालूम होती है। रामको विदित होता है कि उन्हें चौदह बरसके लिए बनवासकी श्राज्ञा मिली है। यद्यपि यह श्राज्ञा पहले दिनके निश्चयके बिलकुल विपरीत है, परन्तु उसे माननेमें वे तिनक भी संकोच नहीं करते; उसे श्रपना बड़ा भाग्य समभते हैं।

> 'सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु-मातु वचन अनुरागी।'

यदि सच पूछा जाय तो रामके सामने यह धर्म-संकट श्रांता ही नहीं है कि वह बनको जायं या न जायं। वे तो मातापिताके श्राज्ञाकारी प्रत्न हैं। उन्हें बन जानेमें प्रसन्नता होती है श्रीर यह प्रसन्नता श्रीर भी बढ़ जाती है, जब यही उनके मातापिताकी भी श्राज्ञा है। वे कहते हैं—

'मुनिगन मिलनु विसेषि बन, सबिह भांति हित मोर। तेहि महं पितु आयस बहुर्रि, समाति जननी तोर॥' भरतका राज्य पाना भी रामके लिए कैसा आनन्दप्रद है—

> 'भरतु प्रानप्रिय पाविहं राजू। विधि सब विधि मोहिं सनसुख त्राजू॥'

राम वहांसे श्राकर हंसते हुए कीश्रत्याके पास पहुंचे श्रीर उनको वनवासका समाचार इस भांति सुनाया—

'पिता दीन्ह मोिह्नं कानन राज। जहं सब भांति मोर बड़ काजू॥'

श्रीर उनसे बन जानेकी श्राज्ञा मांगी। रामने यहां 'श्रनुचित उचित विचार तज'कर श्रीर 'पितु बैन' पालन करके श्रपूर्व पित्नमित्त दिखलायी है। हमें यहां विचार करना है कि रामचन्द्रजीने जो श्रपना कर्तव्य निश्चित किया, वह ठीक है या नहीं। इस प्रश्नपर तुलसीदासजीके समकालीन तथा उनके परिचित सुकवि रहीम श्रपनी समाति इस भांति देते हैं—

> अनुचित वचन न मानिये, यदिष गुरायसु गाढ़ि। है 'रहीम' रघुनाथ तें, सुजस भरतको बाढ़ि॥

इस विषयपर दो प्रकारसे विचार करना उचित है। यदि हम रामको श्रादर्भ प्रव श्रीर—

'प्रसन्नतां यो न गतोऽभिषेकतस्तथा न मन्ती वनवासदुःखतः' वाले विचारींको मानकर विचार करें तो उनका इस विषयका निर्धय सर्वथा. उचित जंचता है। दूसरी और यदि हम रामको राजनीतिच्च मान लें, तब तो यही कहना पड़ता है कि रामने बन जाकर भारी भूल की। हम देखते है कि सारी अयोध्याको उनके बन जानेकी आज्ञा सुनकर दुःख हुआ है और अयोध्यावासी राजा दश्ररथकी इस आज्ञाको अनुचित मानते हैं। अतएव राम सहज ही में बन न जाकर युवराजपद ले सकते थे। राम यह भी जानते है कि राजा दश्ररथ ख्यं भी उनके इस आज्ञा-उक्षंघन ही में सुखी होंगे। वे उनके बिना जो नहीं सकते। उधर भरत भी उनके इतने भक्त हैं कि रामके युवराजपद ले-लेनेमें उन्हें प्रसन्नता ही होगी। रघुकुलरीति तो यह थी ही कि युवराजपद सबसे बड़ेकों मिले। अतएव राम अपने पिताकी आजाको न मानकर सारी आपत्तियोंका निवारण कर सकते थे। परन्तु रामकों तो यह रीति पहले ही अनुचित जान पड़ी थी, तब वे भला पित्ट-आजा उद्घंघन करके युवराजपद कैसे स्वीकार करते!

रामका बन जाना निश्चित होते ही एक साथ कई पातोंपर धर्म-संकट आ पड़ते हैं। की शब्धा रामको बन भेजें या न भेजें, सीता रामके साथ बन जायं या घर रहें, यही प्रश्न लक्ष्मणके सामने भी है। सुमिता लक्ष्मणको रामकी सेवामें भेजें या नहीं और खयं राम इन दोनोंको बन ले जायं या घर ही पर रहनेकी आज्ञा दें; एक अजब गड़बड़ी पैदा हो गयी है। प्राय: प्रत्येक मुख्य पात्रके हृदयमें दो विरोधी कर्तव्योंका युद्ध हो रहा है। यहां हम इन सबपर क्रमण: विचार करेंगे।

कीशल्याको राम-बनवासकी श्राज्ञा सुनकर एक बड़ा भारी धक्का पहुंचता है। कहां तो इस विचारमें मग्न हैं कि श्राज रामको युवराजपद मिलेगा श्रीर कहां बिना किसी पूर्व सूचनाके एकबारगी उनको रामबनवासकी ख़वर मिलती है। यदि उन्हें इस बातकी पहलेसे तिनक भी शंका होती, तो उनके हृदयपर इतनी श्रिधक चोट न बैठती। वे राम-बनवासकी बात सुनकर बड़े ही धर्म-संकटमें पड़ जाती

है। कीश्रत्याके धर्म-संकटको गोखामीजीने इस भांति वर्णित किया है—

> राखों सुतिह करों अनुरोधू। धरम जाइ अरु वंधुविरोधू॥ कहों जान बन ती बिड़ हानी। संकट-सोच-विवस भै रानी॥

इस कठिनाईको सुलभानेकी एक युक्ति कीश्रल्थाके ध्यानमें श्राती है। वह रामसे यह पूछती हैं कि बन जानेकी श्राज्ञा तुमको केवल तुम्हारे पिताने ही दी है या कैकेयीने भी। यदि पिताने ही श्राज्ञा दी हो, तो मै तुम्हें बन न जानेकी श्राज्ञा देती ह' श्रीर तुम माताकी श्राज्ञा पिताकी श्राज्ञासे बडी जानकर घरपर रहो।

> 'जों केवल पितु श्रायसु ताता। ती जिन जासु जानि विड् माता।'

परन्तु वहां तो माता व पिता दोनोंकी यही आज्ञा है, यह जानकर फिर की शक्या संकटमें पड जाती हैं। अंतमें उनका ची-धर्म तथा राम और भरत दोनोंके प्रति समान प्रेंम उनसे रामको वन जानेकी आज्ञा दिला देता है।

'बहुरि समुिक तिय धरमु सयानी। राम-भरत दोड सुत सम जानी। तात जाड बिल कीन्हें हु नीका। पितु श्रायसु सब धरम क टीका।'

कीशस्याके इस निर्णयपर विचार करते समय यद्यपि उनके

ची-धर्मको मात्र-धर्मपर प्रधानता देना कुछ अनुचित प्रतीत होता है, परन्तु डनका भरतको राम हो की समान अपना पुत्र समभनेका विचार इस अनीचित्यको बिलकुल दूर कर देता है। यदि किसी माताके दो समान पुत्र हीं और डनमें एकको बनवास व दूसरेको युवराजपद मिलनेवाला हो, तो वह कैसे यह कहेगी कि दूसरेको युवराजपद न देकर पहलेको दिया जाय। अतएव कीश्र खाका यह निर्णय अनुचित नहीं जान पड़ता।

रामके बनवासकी बात सुन सीताजी व्याकुल हो उठीं। उनकी इच्छा यह हुई कि राम हमको भी अपने साथ ले चलें; परन्तु इस बातका विम्बास नहीं हुआ कि राम उन्हें ले हीं चलेंगे। अतएव वे सोचती हैं—

> 'की तनु प्रान कि केवल प्राना। विधि करतब कछु जाइ न जाना।'

यह तो सीताजी निश्चय जानती है कि यदि राम उन्हें साथ न भी ले जायंगे, तो भी उनके प्राण अवध्य ही रामके साथ जायंगे। सीताजीको पहले कीप्रल्याजी घर रहनेके लिए समभाती हैं, परन्तु यह समभक्तर कि शायद रामके समभानेका उनपर ज्यादा असर पड़े, वह रामसे कहती हैं—

> 'जी सिय भवन रहै कह श्रंबा। मोहिं कहं होहि बहुत श्रवलंबा।'

राम सीताको अपनी माताके सामने समभानेमें सकुचते हैं, परन्तु फिर अवसरका बिचार करके सीताको शिचा देते है। वे बनके तरह-तरहके कष्ट बताकर और सीताकी सुकुमारतासे उनकी तुलना करके, उन्हें हतोताह करना चाहते हैं। सीता यह सब सुनकर भी अपने निश्चयपर दृढ़ रहती है और रामकी दृन वातोंका उत्तर बड़ी सुन्दरतासे देती हैं। वे व्यंगमय वचनोंमें रामसे कहती हैं—

'में सुकुसारि नाथ वन जोगू। तुमिं उचित तप, मोकहं भोगू।'

राम अब सीताको दूसरी ही प्रकारसे समभाते हैं। वह सीतासे कहते है कि तुम घरपर माता-पिताकी सेवा करनेके लिए रहो, माता-पिताकी सेवा करना तुम्हारा धर्म है। जब वे हमारे विक्कोहसे दुखी हों, तब तुम उन्हें अपनी 'मृदुवानी'से समभाना। सीताजीको यह सब शिचा अनुचित जान पड़ती है। पतिव्रतके सामने 'सादर सास-ससुर-पद-पूजा' उन्हें फीकी जंचती है। अतएव वे कहती हैं—

भैं पुनि समुभि दीख मन माहीं।
पिय वियोग सम दुख जग नाहीं॥

* * * *

'तनु धनु धासु धरनि सुरराजू।
पितविहीन सब सीक समाजू॥

अन्तमें उनका वन जाना तय हो जाता है और वह भी कीश्राखासे विदा मांगती हैं।

हमें सीताजीका यह निश्चय विलक्षल उचित जान पड़ता है। जीका कर्तव्य यही है कि वह पतिका विपत्तिमें भी साथ न छोड़े, फिर भला सीता जैसो आदर्श जीका तो यह कर्तव्य होना ही चाहिए। रामचन्द्रजीके अनन्य भक्त लच्छाणने जब राम-बनगमनका समाचार सुना, तो वे घवडा गये। उनके मनमें यह प्रांका आने लगी—

'मोकहं काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि खेहिहं साथा।'

राम उनको भी घर रहनेकी शिचा देते हैं और कहते हैं कि माता-पिताको सांत्वना देते रहना। लच्छण अपने आराध्य-देव रामके वचनोंका उत्तर नहीं दे सकते। उनकी समभमें रामकी बातको काटना अनुचित होगा, परन्तु घरपर न रहनेकी वेबसीको वे अपनी आसाति हारा प्रकट कर देते हैं, वे एकवारगी कह उठते हैं—

'नाथ दासु में खामि तुह्म तजह त कहा बसाइ।'

रामको लच्मणको ऐसी दृढ़ प्रीति देखकर उन्हें बन ले चलनेकी स्वीक्ति देनी ही पड़ती है।

लक्ष्मण्का यह कर्तव्य साधारण दृष्टिसे बहुत उचित नहीं जान पड़ता। श्रव्या ही किसी मनुष्यका कर्तव्य अपने भाईके प्रति उतना नहीं होन्से चाहिए, जितना अपने माता-पिताके प्रति; फिर ऐसे विशेष अवसरपर, जब कि भरत व श्रवृन्न भी घरपर नहीं हैं श्रीर मातापितापर विपत्ति पड़ी है, लक्ष्मणको अपने पिताकी श्रोर अधिक ध्यान देना चाहिए था। यह तो बात ही श्रीर है कि लच्चण राम ही को सर्वस्व समभाते हों—'मोरे सबद एक तुम स्वामी'।

लक्षणके सुमित्राके पास बन जानेकी आज्ञा लेने जाते ही सुमित्रापर भी धर्म-संकट औं जाता है। वे मोहमें पंसकर लक्षणको बन जानेसे रोकें या उन्हें बन भेजें। इस सम्बन्धमें सुमित्राका निर्णय सर्वधा स्तृत्य है। यद्यपि लक्षण अपनी मातासे आज्ञा मांगनेमें सकुचते हैं—

'मांगत विदा सभय सक्जचाचीं। जाद संग, विधि, कच्चि कि नाचीं।'

परन्तु सुमित्रा अपने मोहको दबाकर बद्माणको बन जानेकी आज्ञा देनेमें तिनक भी नहीं सकुचतीं, वरन् उन्हें राम-जानकीकी सेवा करनेका उपदेश देती हैं। वे अपने धर्म-संकटको तुरन्त ही दूर करके अपना कर्तव्य निश्चित कर लेती हैं। उनकी निम्नलिखित सीख बडी ही ज़ोरदार है—

'तात तुम्हारि मातु वैदेही।
पिता राम सब भांति सनेही।'

* * * * *
'जी पै सीय-रामु बन जाहीं।
ग्रवध तुम्हार काज ककु नाहीं।'

* * * *
'जीह न राम बन लहहिं कलेसू।
सुत सोद्र करेहु दृहै उपदेसू।'

सुमित्रामें मोहको अपने दृदयसे दूर हटा देनेकी शक्ति है। उनका लच्मणको उपदेश आदर्श साहभिक्तिका उपदेश है।

यदि सच पूछा जाय, तो अयोध्याकांड अरमें धर्म-संकट केवल अरत ही पर पड़ता है। वे दो विरोधी कर्तव्योंके बीचमें बुरी तरह पिस रहे हैं। एक और मातापिताकी उनके लिए यह आज्ञा है कि वह राज्य स्वीकार करें। कुर्लगुरु इत्यादि भी उनको राज्य स्वीकार करनेंके लिए ही जोर दे रहे हैं। दूसरी और उनका अन्तः करण उनसे बार-बार कह रहा है कि यह आज्ञा अनुचित है। रामके साथ बड़ा ही अन्याय किया गया है, राज्य पानके अधिकारी वे ही हैं; अतएव तुम यह पद स्वीकार न करो।

भरत अपने निन्नालंसे लीटकर अयोध्या चले आ रहे हैं। भांति-भांतिके अपश्कुनोंसे उन्हें भावी अनिष्टकी स्चना मिल रही है। कैकेयोसे मिलते ही वे अपने पिता तथा राम आदिकी कुश्रल पूछते हैं। कैकेयो अपने मनमें सम्भती हैं कि भरत उनके वरदानोंकी बात सुनकर बहुत प्रसन्न होंगे। वे कहती हैं—

'तात बात मैं सकत संवारी। भद्र संघरा सहाय विचारी।'

परन्तु भरत ज्यों ही दशरधकी मृत्यु तथा राम, सीता श्रीर लच्मणकी वनवासकी स्चना पाते हैं, त्यों ही वे बड़े ही दुखी होते हैं। सबसे श्रिधक दु:ख उन्हें इस बातका है कि उनके ही कारण इतना उपद्रव हुश्रा है। उनकी ही भलाईके लिए उनकी माताने इतना वडा श्रिन्थ कर डाला। श्रतएव वे कह उठते हैं—

'बर मांगत मन भद्र निहं पौरा। गरि न जीह मुंह परेड न कौरा।' 'कदकद कत जनमी जग मांभा। जो जनमति भद्र काहे न बांभा। कुलकलंक जीहि जनमेड मोहीं। अपजसभाजन प्रियंजन द्रोही।'

भरतनी तुरन्त कीशत्याके पास नाते हैं। उन्हें अब यह बात आवश्यक नान पड़ती है कि वे कीशत्या आदिको यह विखास दिला दें कि वे स्वयं इस षडयन्त्रसे विलक्षन अलग थे। वे सैकड़ों शपथ खाते हैं कि मेरी समातिसे ये वरदान कदापि नहीं मांगे गये हैं।

'जे अघ मातु-पिता सुत मारे।
गाद-गोठ महिसुरपुर जारे।
जे पातक उपपातक अहहीं।
करम-वचन-मन-भव किव कहहीं।
ते पातक मोहि होह विधाता।
जों पहु होद मोर मत माता।'

'जे परिहरि हरिहर चरन, भजहिं भूत घनघोर। तिहि कैं गति मोहिं देहु विधि, जो जननी मत मोर॥'

परन्तु वहां तो इन शपयोंकी श्रावश्यकता ही नहीं थी। कीशव्यका सन उनकी श्रोरसे विलक्षल साफ था। तो भी भरतको यह निश्चय करानेके लिए कि उन्हें उनकी नेकनीयतीका पूर्ण विश्वास है, कीशव्यको यह कहना पडता है—

'मत तुम्हार एह जो जग कहहीं। सो सपनेहुं सुख सुगति न सहहीं।'

राजा दशरथके भवका दाइ-संस्कार श्रादि करनेके बाद 10-1584 B T.

विशिष्ठजी भरतको ज्ञानोपदेश करते हैं श्रीर उनसे पिताकी श्राज्ञा माननेका श्रन्रोध करते हैं।

'श्रनुचित उचित विचार तिज, जी पालिहें पितु बयन। ती भाजन सुख सुजस की, बसहिं श्रमरपति श्रयन॥'

ये उपदेश भरतके ध्यानमें बिलकुल नहीं श्राते। वे श्रपनी बातपर दृढ़ रहते हैं श्रीर यह विचार करते हैं कि वे रामको बनसे लौटाकर सिंहासनपर बैठाएं श्रीर ख्यं उनके बदले बनवास करें। श्रतपव वे माताश्रों, कुलगुर विश्वष्ठ तथा समस्त फौजको लेकर राम-जानकीसे मिलने चल दिये। चित्रकूट पहुंचकर भरत रामसे मले श्रीर उन्हें हर तरहसे घर लौट चलनेके लिये विवश किया; परन्तु रामने बनसे न लौटनेकी दृढ़ता दिखायी, श्रीर भरतको भी पिताकी श्राज्ञा पालन करनेका उपदेश दिया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस श्रवसरपर विश्वष्ठजी भी भरतकी श्रोरसे पैरवी कर रहे हैं श्रीर रामसे राज्य खीकार करनेको कहते हैं। भरतने श्रपने नम्त्र निवेदनको इस भांति प्रकट किया है—

'सानुज पठद्रय मोहिं बन, कीजिय सबहिं सनाथ। नतक फेरि यहि बंधु दोड, नाथ चलौं मैं साथ॥'

इससे यह प्रकट होता है कि भरत रामको अयोध्या लौटा ले चलनेपर उतना जोर नहीं देते, जितना कि अपना रामके साथ रहने और उनकी सेवा करनेपर। राम भरतको अयोध्याका प्रवन्ध करनेके लिये लीटा्ना ही चाहते हैं श्रीर उन्हें श्रत्यन्त गन्भीर हपदेश देते हैं, जिसे सुनकर भरतको विवश होकर कहना पड़ता है—

'श्रव क्षपाल जस श्रायसु होई। करों सीस धरि सादर सोई। सो श्रवलंब देख मोहिं देई। श्रविध पार पावों जीहि सेई।'

यहांपर रामने भरतको राज्य-शासन सम्बन्धी उपदेश दिया है। यह उपदेश तो भरतको बहुत उचित जंचा, परन्तु बिना किसी श्राधारके उनका मन शांत न हुआ।

'वन्धु प्रवोध कोन्ह वहु भांती। विनु अधार सम तोषु न सांती।

अतएव रामने उनको अपनी खड़ाऊ' दे दीं और भरत उन्हें सादर लेकर चल दिये।

> 'प्रभु करि क्षपा पांवरी दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं।

उन्हों खडाडग्रोंको सिंहासनपर रखकर श्रीर खयं तपस्वी श्रीर सेवकके समान रहकर राज-काज करने खगे। श्रव उनका यह नित्य-कर्म हो गया—

> 'नित पूजन प्रभु पांवरी, प्रीति न हृदय समाति। मांगि मांगि श्रायसु करत, राज-काज बहु भांति॥'

जितना ही विकट धर्म-संकट भरतके सामने उपस्थित हुआ है उतना ही अच्छा उन्होंने उसका निर्वाह भी किया है। उन्होंने

एकबारगी राज्यसिंहासन स्त्रीकार न क्राकी अपनी उदारता दिखायी है, अपने मनको भी समका लिया है, और अन्तमें राज-काज भी अव्यवस्थित नहीं होने दिया है। राजाके कर्तव्य करते हुए भी उन्होंने राज्यके श्रानन्दका भोग नहीं किया है। उन्होंने श्रपने पिताकी याज्ञाका उन्नंघन भी किया और उसका पालन भी किया है। राज्य-भार तो अंतमें ग्रहण ही किया, परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी दिखा दिया कि वास्तवमें राज्यपर उनका कोई अधिकार नहीं है। वह तो राम ही को मिलना चाहिये था। राज-काज तो आप खयं संभालते हैं, परन्तु राज्यसिं हासनपर रामकी पादुका बैठी हैं। यदि भरतजी सीधे निनहालसे आते ही राज्य ग्रहण कर लेते, तो वह नेवल आज्ञाकारी पुत्र ही कहलाते; परन्तु ऐसा न करनेसे उनका चरित्र बहुत उज्ज्वल हो गया है। यहां यह न समभ लेना चाहिये कि भरत वास्तवमें राज्य करना चाहते थे; परन्तु अपने चरित्रको उच्चल करने ही के लिये उन्होंने इतना दिखावा किया है। ऐसा समभना भरतजीको एक कमीना राज-नीतिज्ञ मानना होगा और साध भरतके प्रति अन्याय कभी चम्य नहीं हो सकता।

अन्तमें हम देखते हैं कि इस कांडमरमें वास्तवमें केवल तीन धर्म-संकट आते हैं। पहला राजा दशरथपर, दूसरा कीशल्यापर, और तीसरा भरतपर। सबसे बड़ा धर्म-संकट भरतके सम्मुख है श्रीर उसका निर्वाह भी उसीके अनुरूप हुआ है। हम दशरथके धर्म-संकट-निर्वाहसे सन्तुष्ट नहीं है। उनका अपनी कुटिल खीसे प्रतिज्ञाबड होकर उसीके वचनको सब परिस्थितियोंमें प्रतिपालन करना ठीक नहीं जंचता। उन्हें ऐसे अनुचित निर्णयका फल भी

उनकी सृत्युके रूपमें तुरन्त ही मिल गया। कीश्रत्याने श्रपने धर्म-संकटका हमारे विचारमें उचित निर्वोह्न किया है।

यहांपर यह दिखा देना अनुचित न होगा कि हमारे किवियोंकी रचनाओं में धार्मिक भावोंके आ जानेके कारण, कलाकी दृष्टिसे, उनमें कैसी असम्बद्धता आ जाती है। इतना सब उपर्युक्त विचार करनेके बाद भी ज्योंही हम इस बातको याद दिलानेवाली कोई पंक्ति पढ़ते है कि राम, दशरथ आदि पाच जो कुछ कहते या करते हैं वह अपनी प्रेरणासे नहीं, वरन् एक और ही कार्यके निमित्त; तो इन पात्रोंके कार्योंकी वास्तविकता जाती रहती है। कीश्रख्या व दशरथका रामके लिये विलाप, सीताका बन जानेके लिये अनुरोध आदि बातें बनावटी और अवास्तविक लगने लगती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि राम, दशरथ, सीता आदि पात्र किसी नाटकका अभिनय कर रहे हैं।

पद्यांश

चेतावनी

[कवीर साइव (संवत् १४४५-१५७५ वि॰)—ये प्रसिद्ध महातमा श्रीर सुधारक थे। हिन्दी कवियों में दनका स्थान वहुत कं चा है। दनकी वाणीका सग्रह वीजक नामसे श्रीर दनका चलाया हुआ मत कवीर-पंथके नामसे प्रसिद्ध है। दनके भजन मिंदरों में गाये जाते हैं। दनकी साखिया कहावतों का काम करती हैं। कवीर-पंथयों में हिन्दू सुसलमान दोनों प्रकारके शिष्य पाये जाते हैं।

निवरा गर्व न की जिये काल गहे कर कैस।
ना जानों कित मारिह क्या घर क्या परदेस ॥१॥
भूठे सुखको सुख कह मानत है मन मोद।
जगत चवना कालका कुछ मुखमें कुछ गोद॥२॥
कुसल कुसल ही पूछते जगमें रहा न कोय।
जरा मुई ना भय मुद्रा कुसल कहांसे होय॥३॥
पानी केरा वुद्वुदा अस मानुषकी जात।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात॥४॥
रात गंवाई सोयकर दिवस गंवाया खाय।
हीरा जनम अमोल या की ड़ी बदले जाय॥५॥
आछे दिन पाछे गये गुरुसे किया न हेत।
अब पछतावा क्या कर चिड़ियां चुग गई खेत॥ई॥

काल्ह करै सो ग्राज कर ग्राज करे सो ग्रब्ब। पलमें परले होयगी बहुरि करेगा कब्ब ॥७॥ पाव पलका सुधि नहीं करें काल्हका साज। काल अचानक मारसी ज्यों तीतरको बाज ॥८॥ कबिरा नीवत श्रापनी दिन दस लेहु बजाय। यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखी श्राय ॥८॥ पांचों नीवत बाजती होत क्रतीसों राग। सो मंदिर खाली पड़ा बैठन लागे काग ॥१०॥ जजड़ खेड़े ठीकरी गढ़ि गढ़ि गये कुम्हार। रावन सरिखा चिल गया लंकाका सरदार ॥११॥ कबिरा गर्व न कीजिये अस जोबनकी आस। टेस् फूला दिवस दस खंखर भया पलास॥१२॥ कबिरा गर्व न कौजिये ज चा देख अवास। काल्ह परीं भुद्रं लेटना जपर जमसी घास ॥१३॥ ऐसा यह संसार है जैसा सेमर फूल। दिन दसके व्योहारमें भूंहे रंग न भूल ॥१४॥ माटी कहै कुम्हारको तूं क्या रू'दै मोहिं। इक दिन ऐसा होयगा मैं रू'टू'गी तोहिं॥१५॥ कबिरा यह तन जात है सके तो ठीर लगाव। कै सेवा कर साधकी के गुरुके गुन गाव॥१६॥ मोर तोरकी जेवरी बटि बांधा संसार। दास कबीरा क्यों बंधे जाके नाम श्रधार ॥१७॥ दुलेभ मानुष ज्ञनम है देह न बारंबार। तरवर ज़्यों पत्ता भाड़े बहुरि न लागे खार ॥१८॥

HINDI SELECTIONS

श्राये हैं सो जायंगे राजा रंक फकीर। एक सिंघासन चढ़ि चले इक बंधि जात जंजीर ॥१८॥ जो जान हु जिव ग्रापना कर हु जीवकी सार। जियरा ऐसा पाचुना मिलै न दूजी बार ॥२०॥ किंवरा यह तन जात है सके तो राख बहोर। खाली हाथों वे गये जिनके लाख करोर ॥२१॥ श्रास पार्स जोधा खड़े सबी बजावें गाल। मांभ महलसे ले चला ऐसा काल कराल ॥२२॥ तन सराय मन पाइक मनसा उतरी श्राय। कोड काइका है नहीं देखा ठींक बजाय ॥२३॥ में में बड़ी बलाय है सकी तो निकसी भाग। वाह वाबीर वाब लग रहे तुई लपेटी आग ॥२४॥ वासर सुख ना रैन सुख ना सुख सपने माहिं। जो नर विकुड़े नामसे तिनको धप न क्वा हिं॥२५॥ अपने पहरे जागिये ना पड़ि रिहये सोय। ना जानीं किन एकमें किसका पहरा होय॥२६॥ दीन गंवायो संग दुनी दुनी न चाली साथ। पांव कुल्हाड़ी मारिया मूरख अपने हाथ॥२०॥ में भंवरा तोच्चिं बर्जिया बन बन बास न लेय। श्राटकौगा कर्रु वेलसे तड़पि तड़पि जिय देय ॥२८॥ वाडीके विच भंवर या कलियां लेता वास। सो तो भंवरा डिंड गया तिज बाडीकी श्रास ॥२८॥ भय बिन भाव न जपने भय बिन होय न प्रीति। जब हिरदेसे भय गया मिटी सकल रस रीति ॥३०॥

भयसे भक्ति करें सबै भयसे पूजा होय। भय पारस है जीव को निर्भय होय न कोय॥३१॥ ऐसी गति संसारकी ज्यों गाङ्रकी ठाट। एक पड़ा जेहि गाड़में सबै जायं तेहि बाट ॥३२॥ दक दिन ऐसा होयगा कोड काह्नका नाहिं। घरकी नारीको कहै तनकी नारी जाहिं॥३३॥ भंवर बिलंबे बागमें बहु फूलनकी श्रास। जीव बिलंबे विषयमें श्रंतह्न चले निरास ॥३४॥ चलती चक्की देखिके दिया कबीरा रोय। दुइ पट भीतर भाइके साबित गया न कोय ॥३५ ॥ सेमर सुवना सेदया दुद ढेंढ़ीकी श्रास। ें ढेंढ़ी फूटि चटाक दे सुवना चला निरास ॥३६॥ धरती करत एक पग समुंदर करते फाल। हाथन परवत तीलते तिनहुं खाया काल ॥२०॥ श्राज काल्इ दिन एकमें दृख्यिर नाहिं सरीर। कच कबीर कस राखिडी कांचे बासन नीर ॥३८॥ माली जावत देखि के कलियां करें पुकार। -फली फली चुनि लिये काल्हि हमारी बार ॥३८॥ कांची काया मन अधिर धिर धिर काज करंत। च्यों च्यों नर निधडक फिरत त्यों त्यों काल इसंत ॥४०॥ इस जानें थे खायंरी बहुत जमीं बहु माल। क्योंका त्यों ही रह गया पकरि लै गया काल ॥४१॥ दवकी दाही लाकड़ी ढाढ़ी करें पुकार। -श्रव जो जाउ' लोहार घर डाहै टूजी बार ॥४२॥

जरनेहारा भी मुत्रा मुत्रा जरावन-हार। है है करते भी सुए कासीं करीं पुकार ॥४३॥ भाई बीर बटाउग्रा भरि भरि नैनन रोय। नाका या सो ले लिया दीन्हा या दिन दीय ॥४४॥ तेरा 'गी कोइ नहीं सबै खारथी लोय। मन परतीति न ऊपजै जिव विखास न होय ॥४५॥ कबिरा रसरी पांवमें कह सोवे सुख चैन। स्रांस नगाडा कूंचका बाजत है दिन रैन ॥४६॥ पात भरंता यों कहै सुनु तरवर बनराय। **अवके बिकुरे ना मिलें दूर परेंगे जाय ॥४७॥** कबिरा जंत्र न बाजई टूटि गया सब तार। जंत्र विचारा क्या करे चला बजावन-हार ॥४८॥ सायी इमरे चिल गये इम भी चालनहार। कागदमं बाकी रही तातें लागी बार ॥४८॥ दस दारेका पींजरा तामें पंछी पीन। रिहवेको श्राचरज है जाय तो श्रचरज कौन ॥५०॥ सुर नर मुनि श्री देवता सात दीप नव खंड। वाह वाबीर सब भोगिया देह धरेका दंड॥५१॥

उपदेश

जो तोको कांटा बुवै तान्वि बोव तू फूल। तोहि फूलको फूल है वाको है तिरस्ल ॥१॥ दुर्वलको न सताइये जाकी मोटी हाय। विना जीवकी खांससे लोह भसम है जाय॥२॥ कबिरा श्राप ठगाइये श्रीर न ठगिये कोय। श्राप ठगा सुख होत है श्रीर ठगे दुख होय ॥३॥ या दुनियामें भाइने छांड़ि देद तू ऐंठ। लेना होद सो लेद ले उठी जात है पैंठ ॥४॥ ऐसी बानी बोलिये मनका श्रापा खोय। श्रीरनको सीतल करे श्रापहुं सीतल होय॥५॥ जगमें बैरी कोइ नहीं जो मन सीतल होय। या श्रापाको डारि दे दया करै सब कोय ॥६॥ इस्ती चढ़िय ज्ञानको सहज दुलीचा डारि। स्वान रूप संसार है भूसन दे भख मारि॥७॥ बाजन देह जंतरी किल कुकही मत छेड़ । तुमी पराई क्या पड़ी अपनी आप निबेड़॥८॥ श्रावत गारी एक है उत्तटत होय श्रनिक। कइ कबीर निहं उलटिये वही एककी एक ॥೭॥ गारी ही सों जपजे कलह कष्ट श्री मीच। द्वारि चलै सो साधु है लागि मरै सो नीच ॥१०॥ जैसा अनजल खाइये तैसा ही मन होय। जैसा पानी पीजिय तैसी बानी सोय॥११॥

सांगन सरन समान है मित कोइ मांगो भीख। मांगन ते मरना भला यह सतगुरुकी सीख ॥१२॥ उदर समाता अन लै तनिहं समाता चीर। अधिक हिं संग्रह ना करे ताका नाम फकीर ॥१३॥ कइतेको किं जान दे गुरुकी सीख तु लेइ। साकट जन श्री खानको फिर जवाब मत देइ ॥१४॥ जो कोइ समभै सैनमें तासीं कहिये बैन। सैन बैन समभी नहीं तासों कछ कहै न ॥१५॥ वहतेको सत बहन दे कर गहि ए चहु ठीर। कहा सुना माने नहीं बचन कही दुइ और ॥१६॥ सकल दुरमती दूर करि आछो जन्म बनाव। काग गमन गति छांडि दे इंस गमन गति त्राव ॥१७॥ मधुर बचन हैं श्रीषधी कटुक बचन हैं तीर। स्रवन द्वार ही संचरें सालें सकल सरीर ॥१८॥ बोलत ही पहिचानिये साह चोरको घाट। ग्रंतरकी करनी सबै निकसे सुखकी बाट ॥१८॥ पढ़ि पढ़िने पखर भये लिखि लिखि भये जो ईंट। कविरा श्रंतर प्रेमकी लागी नेक न छींट ॥२०॥ नाम भजो मन बसि करो यही बात है तंत। काहे को पढि पचि मरो काटिन ज्ञान गरंथ ॥२१॥ करता या तो क्यों रहा श्रव करि क्यों पश्चिताय। वोवे पेड वबूलका आम कहां तें खाय॥२२॥ कविरा दुनिया देहरे सीस नवावन जाय। हिरदे माहीं हरि बसें तू ताही ली लाय ॥२३॥

मन मथुरा दिल दारिका काया कासी जान। दारेका देहरा तामें जीति पिछान ॥२४॥ पूजा सेवा नेम व्रत गुड़ियनका सा खेल। जब लग पिछ परसै नहीं तब लग संसय मेल ॥२५॥ तीरथ चाले दुइ जना चित चंचल सन चोर। एको पाप न उतिरया सन इस लाये और ॥२६॥" न्हाये धोये क्या अया जो मन सैल न जाय। मीन सदा जलमें रहै धोये वास न जाय ॥२७॥ पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुत्रा पंडित हुआ :न कोय। एकै अच्छर प्रेमका पढ़े सो पंडित होय॥२८॥ पढ़े गुने सीखे सुने सिटी न संसय सूल। कह कबीर कासीं कहं येही दुखका सूल ॥२८॥⁴ पंडित श्रीर मसालची दोनों सूमी नाहिं। श्रीरनको करें चांदना श्राप श्रंधेरे माहिं॥३०॥ कंचे गांव पहाड्पर श्री मोटेकी बांह। ऐसो ठाकुर सेइये उवरिय जाकी छां ॥३१॥ हे कबीर तैं उतिर रह संबल परोह न साथ। सबल घटे श्री पग यके जीव बिराने हाथ ॥३२॥ श्रपा तजो श्री हरि भजो नख सिख तजो विकार। सब जिंड ते निरबैर रहु साधु मता है सार ॥३३॥^ बस् बंधन ते बांधिया एक बिचारा जीव। का बल छूंटै ग्रापने जो न कुड़ाव पीव ॥३४॥ ससुकाय समुक्ते नहीं परच्य श्राप विकाय। में खैंचत हों श्रापको चला सो यमपुर जाय ॥३५॥"

वोह तो वैसिंह भया तू मित होइ अयान।
तू गुणवंत वे निरगुणी मिति एक में सान॥३६॥
पूरा साहव सेइये सब विधि पूरा होइ।
ओं के नेह लगाइये सूलो आवे खोद॥३०॥
पहिले वुरा कमाइ के बांधी विष के मोट।
कोटि कम मिट पलकमें आवे हिरकी ओट॥३८॥

काम

सह कामी दीपक दसा सोखै तेल निवास।
काविरा हीरा संत जन सहजे सदा प्रकास ॥१॥
कामी क्रोधी लालची इनसे भित्त न होय।
भित्त करे कोइ स्रमा जाति वरन कुल खोय॥२॥
भित्त विगारी कामियां इंट्री केरे खाद।
हीरा खोया हायसे जनम गंवाया बाद॥३॥
जहां काम तहं नाम निहं जहां नाम निहं काम।
दोनों कबहं ना मिलैं रिब रजनी इक ठाम॥४॥
काम क्रोध मद लोभकी जब लग घटमें खान।
कहा सुर्ख कह पंडिता दोनों एक समान॥५॥
काम काम सब कोइ कहै काम न चीन्है कोय।
जिती मनकी कल्पना काम कहावैं सोय॥६॥

क्रोध

कोटि करम लागे रहैं एक क्रोधकी लार।

किया कराया सब गया जब जाया हंकार ॥१॥
दसो दिसासे क्रोधकी उठी अपरबल आगि।
सीतल संगति साधकी तहां उबरिये भागि॥२॥
कुबुधि कमानी चढ़ि रही कुटिल बचनका तीर।
भरि भरि मारे कानमे साले सकल सरीर॥३॥
कुटिल बचन सबसे बुरा जारि करे तन छार।
साध बचन जल रूप है बरसें अस्तधार॥॥॥
करक करें गिंड़ रही बचन बचकी फांस।
निकसाय निकसे नहीं रही सो काइ गांस॥॥॥

लोभ

जब मन लागै लोभ सों गया विषयमें सोय।
कहें कबीर बिचारि के कस मक्ती धन होय॥१॥
किवा विस्ता पापिनी तासों प्रीति न जोरि।
पैंड पैंड पाछे परे लागे मोटी खोरि॥२॥
किवा श्रोंधी खोपरी कबहं धापै नाहिं।
तीन लोककी संपदा कब श्रावै घर माहिं॥३॥
श्राव गई श्रादर गया नैनन गया सनेह।
ये तीनों तबही गये जबहिं कहा कक देह॥॥
बहुत जतन किर की जिये सब फल जाय नसाय।
किवरा संचय सूम धन श्रंत चोर लै जाय॥॥॥

मोह

मोइ फंद सब फांदिया कोइ न मके निरवार। कोइ साधू जन पारखी बिरला तत्व बिचार ॥१॥ मोह मगन संसार है कन्या रही कुमारि। काइ सरित जो ना करी फिरि फिरि ले अवतारि ॥२॥ जहं लग सब संसार है मिरग सबनको मोह। सुर नर नाग पताल अस ऋषि सुनिवर सब जोह ॥३॥ सलिल मोइकी धारमें बहि गये गहिर गंभीर। सुच्छम मछरी सुरति है चढ़िती उलटे नीर ॥४॥ असृत केरी मोटरी सिरसे धरी उतारि। जाहि कहीं मै एक हीं मोहिं कहै है चारि ॥५॥ जाको सुनिवर तप करें वेद पढें गुन गाय। सोई देव सिखापना निहं कोई पतियाय ॥६॥ भर्म परा तिहुं लोक्स भर्म बसा सब ठाउं। कइ हि कबीर प्रकारिके बसें भर्मके गाउं ॥७॥ युवा जरा बालापन बीत्यो चौथि अवस्था आई। जस मुसवाको तकै बिखैया तस यम घात लगाई ॥८॥ दर्पण केरी जो गुफा सोनहा पैठो धाय। देखत प्रतिमा श्रापनी भूंकि भूंकि मरि जाय ॥೭॥ मनुष बिचारा क्या करै कहे न खुलैं कपाट। म्बान चीक बैठाय के पुनि पुनि ऐपन चाट ॥१०॥

अहङ्घार

मान बड़ाई कूलरी संतन खेरी जानि।
पांडव जग पूरन भया सुपच विराजे श्रानि॥१॥
मान बड़ाई जगतमें कूलरकी पिहचान।
मीत किये मुख चाटही बैर किये तन हानि॥२॥
बड़ा हुश्रा तो क्या हुश्रा जैसे पृंड़ खजूर।
पंथीको छाया नहीं फल लागे श्रित दूर॥३॥
किवरा श्रपने जीव तें ये दो बातें घोय।
मान बड़ाई कारने श्राछत मूल न खोय॥४॥
प्रभुताको सब कोड भजें प्रभुको भजें न कोय।
कहं श्रापा तहं श्रापदा जहं संसय तहं सोग।
कहं श्रापा तहं श्रापदा जहं संसय तहं सोग।
कहं कवीर कैसे मिटै चारों दीरघ रोग॥६॥
माया त्यांगे क्या भया मान तजा नहिं जाय।
जीहि मानै मुनिवर ठंगे मान सबनको खाय॥७॥

सूरदासकी पद

[स्रहास (संवत् १५४०-१६२० वि०)—सक्त कवियों मे इनका स्थान श्रांत उच है। इनके भजन घर घरमे बड़े प्रेमसे गाये जाते हैं। श्रीक्षण भगवान्की जीलाका वर्णनकर इन्होंने अपनी अनुपम किवलशिक्तका परिचय दिया है। यांगार तथा वात्सस्य रसके वर्णनमें इन्होंने जी कमाल विया है वह विश्वसाहित्यमें श्रवेला है।

(8)

राग विलावल

चरण-कमल बंदीं हरि-राइ।
जाकी क्रपा पंगु गिरि लंधे, श्रंधे की सब ककु दरसाइ।
बहिरी सनै, गूंग पुनि बोलै, रंक चलै सिर क्रव्र धराइ।
स्रदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदीं तिहिं पाइ।

(२)

राग कान्हरी

श्रविगत-गित ककु कहत न श्रावै। च्यो गूंगें मीठे फल की रस श्रंतरगत ही भावै। परम खाद सबही सु निरंतर श्रमित तोष छपजावै। मन-बानी को श्रगम-श्रगोचर, सो जाने जो पावै। रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै। सब बिधि श्रगम बिचारहिं तातें सूर सगुन-पद गावै॥

(₹)

राग धनाश्रो

हिर सीं मीत न देखी कोई।
विपति-काल सुमिरत, तिहिं श्रीसर श्रानि तिरीकी होई।
ग्राहे गहे गजपित सुकरायी, हाथ चक्र ले धायी।
तिज वैकुंठ, गरुड़ तिज, श्री तिज, निकट दास के श्रायी।
दुर्वासा की साप निवार्यी, श्रंवरीष-पित राखी।
ब्रह्मलोक-परजंत फिर्यी तहं देव-सुनी-जन साखी।
लाखाग्रह तें जरत पांडु-सुत वुधि-वल नाथ, उवारे।
स्रदास-प्रभु श्रपने जनके नाना तास निवारे॥

(8)

राग सारग

भक्ति हित तुम कहा न कियी ?
गर्भ परीच्छित-रच्छा कीन्ही, श्रंबरीष-ब्रत राखि लियी।
जन प्रहलाद-प्रतिज्ञा पुरई, सखा विप्र-दारिद्र हयी।
श्रंबर हरत द्रीपदी राखी, ब्रह्म-इंद्र की मान नयी।
पांडव की दूतल कियी पुनि, उपसेन की राज दयी।
राखी पैज भक्त भीषम की, पार्थ की सार्थी भयी।
दुखित जानि दोड सुत जुबर के, नारद-साप निव्न कियी।
किर बल-बिगत डबारि दुष्ट तें, याह ग्रसत बैकुंठ दियी।
गीतमकी पितनी तुम तारी, देवं, दवानल की श्रंचयों।
स्रदास-प्रभु भक्त-बछल हरि, बलि-हारें दरबान भयी॥

(虫)

राग सारग

जापर दीनानाथ ढरै।

सोद कुलीन, बड़ी संदर सोद, जिहिं पर क्रपा करें।
कीन विभीषन रंक-निसाचर, हिर हंसि छत्र धरें।
राजा कीन बड़ी रावन तें, गर्बहिं-गर्ब गरें।
रंकव कीन सुदामाहं तें, आप समान करें।
अधम कीन है अजामील तें, जम तहं जात डरें।
कीन विरक्त अधिक नारद तें, निसि दिन भ्रमत फिरें।
जोगी कीन बड़ी संकर तें, ताकों काम छरें।
अधिक कुरूप कीन कुविजा तें, हिर पित पाद तरें।
अधिक सुरूप कीन सीता तें, जनम वियोग भरें।

यह गति-मति जाने निहं कोज, किहिं रस रसिक ढरे। स्रदास भगवंत-भजन विनु फिरि फिरि जठर जरे॥

(€)

राग मारग

रे मन, गोविंद के हैं रहियै।

इहिं संसार अपार बिरत है, जम की व्रास न सिंहयै। दुख, सुख, कीरति, भाग आपनें आद परे सी गहियै। सुरदास भगवंत-भजन करि अंत बार ककु लिहियै॥

(0)

राग धनान्त्री

नर तें जनम पाद कह कीनी ?

उदर भर्यी कूकर-स्कर लों, प्रभु की नाम न लीनी।
स्वी भागवत सुनी निहं सवनिन, गुरु गोविंद निहं चीनी।
भाव-भित्त ककु हृदय न उपजी, मन विषया में दीनी।
भूठी सुख अपनी करि जान्यी, परस प्रिया कें भीनी।
स्वा की मेरु बढ़ाइ अधम तू, अंत भयी बल्हीनी।
लख चीरासी जोनि भरिम के फिरि वाहीं मन दीनी।
स्रदास भगवंत-भजन विनु ज्यों अंजलि-जल हीनी॥

(5)

राग मिं भौटी

जा दिन मन पंछी उड़ि जै है। ता दिन तेरे तन-तर्वर के सबै पात भारि जैहै। या देही की गरव न करिये, स्थार-काग-गिध खैहैं। तीनिन में तन क्राम, के विष्टा, के है खाक उड़ेहै। कहं वह नीर, कहां वह सोभा, कहं रंग-रूप दिखैहै। जिन लोगिन सों नेह करत है, तेई देखि घिनेहैं। घर के कहत सवारे काढ़ी, भूत होइ धरि खैहैं। जिन पुत्रनिहिं बहुत प्रतिपाल्यी, देवी-देव मनेहैं। जिन पुत्रनिहं बहुत प्रतिपाल्यी, देवी-देव मनेहैं। जेई ले खोपरी बास दे, सीस फोरि बिखरेहैं। अजहं मूढ़ करी सतसंगति, संतिन में कह पैहै। नर-बपु धारि नाहिं जन हरि कीं, जम की मार सो खैहै। स्रदास भगवंत-भजन बिनु हथा सु जनम गंवेहै॥

(2)

राग सोरह

, नहिं ग्रस जनम बारंबार।

पुरवली धीं पुन्य प्रगची, लहीं नर-अवतार।

घटे पल-पल, बढ़े छिन-छिन, जात लागि न बार।

धरिन पत्ता गिरि परे तें फिरि न लागे डार।

भय-उद्धि जमलोक दरसें, निपट ही श्रंधियार।

स्र हरि की भजन करि-करि उतिर पक्षे-पार॥

(80)

राग सोरह

श्रव कें राखि लेह भगवान।
हों श्रनाथ बैठ्यी द्रुम-डिरया, पारिष साधे बान।

ताकें डर मैं भाज्यी चाहत, जपर दुक्यी सचान। दुहं भांति दुख भयी श्रानि यह, कीन डवारे प्रान ? समिरत ही श्रहि डस्यी पारधी, कर कूळी संधान। स्रदास सर लग्यी सचानहिं, जय-जय क्रपानिधान॥

(११)

राग गौरी

दयानिधि तेरी गति लखि न परे। धर्म अधर्म, अधर्म धर्म करि, अकरन करन करे। जय श्रक् विजय कर्म कह कीन्ही, ब्रह्म-सराप दिवायी। श्रसर-जोनि ता जपर दीन्ही, धर्म-उद्घेद करायी। पिता-बचन खंडै सो पापी, सोइ प्रचलादि कीन्ही। निक्से खंभ-बीच तें नरहरि, ताहि अभय पद दी ही दान-धर्म बहु कियी भानु-सुत, सी तुव बिसुख कहायी। बेद-बिरुद्व सकल पांडव-कुल, सो तुम्हरें मन भायौ। जज्ञ करत बैरोचन की सुत, बेद-बिह्नित-विधि-कर्मा। सो छलि बांधि पताल पठायी, कीन क्षपानिधि, धर्मा ? हिज-क़ुल-पतित अजामिल विषयी, गनिका-हाथ विकायी। सत-हित नाम लियी नारायन, सो बैकंठ पठायी। पतिब्रता जालंधर-जुवती, सो पति-ब्रत तें टारी। दुष्ट पुंचली, अधम सो गनिका सुवा पढ़ावत तारी। सित-हेत जोगी सम साधे, असर विरोधे पावै। श्रविगत गति करनामय तेरी, सूर कहा कहि गावै॥

(१२)

राग सारंग

श्रविगत-गित जानी न परै।

मन-बच-कर्म-श्रगाध, श्रगोचर, किहि विधि बुधि संचरै ?

श्रित प्रचंड पौरुष बल पाएं, केहिर भूख मरे।

श्रनायास बिनु उद्यम कीन्हें, श्रजगर उदर भरे।

रीते भरे, भरें पुनि ढारे, चाहै फीर भरे।

क्षबहुंक ढन बूड़े पानी में, कबहुंक सिला तरे।

बागर तें सागर किर डारे, चहु दिसि नीर भरे।

पाइन-बीच कमल बिकसावे, जल मैं श्रगिनि जरे।

राजा रंक, रंक तें राजा, से सिर इत धरे।

स्र पतित तिर जाद हिनक में, जो प्रभु नैंकु ढरे॥

(8)

राग धनात्री

प्रभु, मेरे गुन-अवगुन न बिचारी।
कोने लाज सरन आए की, रिव-सत-त्रास निवारी।
जोग-जज्ञ-जप-तप निहं कोन्ही, बेद बिमल निहं भाखी।
अति रसः लुखः खान जूठिन ज्यों, अनत नहीं चित राख्यी।
जिहिं जिहिं जोनि फिखी संकट-बस तिहिं तिहिं यहै कमायी।
काम-क्रोध-मद-लोभ-ग्रसित है विषय परम बिष खायी।
जी गिरिपति मिस घोरि उद्धि में, लै सुरत बिध हायः।
मम क्रत दोष लिखे बसुधा भरि, तज नहीं मिति नाय।
तुमहिं समान और निहं दूजी काहि भजों हों दोन।
कामी, कुटिल, जुचील, जुदरसन, अपराधी, मित-होनः।

तुम ती श्रखिल, श्रनंत, दयानिधि, श्रविनासी, सुख-रासि।
भजन-प्रताप नाहिं मैं जान्यी, पखीं मोहकी फांसि।
तुम सरवज्ञ, सबै विधि समरथ, श्रसरन-सरन सुरारि।
मोइ-ससुद्र सूर वहत है, लीजै सुजा पसारि॥

(88)

राग सारंग

तुम हरि, सांकरे के साथी।
सुनत पुकार, परम आतुर है, दौरि छुडायौ हाथी।
गर्भ परीच्छित रच्छा कीन्ही, बेद-उपनिषद साखी।
बसन बढ़ाद द्रुपद-तनया की सभा मांभ पित राखी।
राज-रविन गाई' व्याकुल है, दै दै तिनकीं घीरक।
मागध हित राजा सब छोरे, ऐसे प्रभु पर-पीरक।
कपटरूप निसचर तन घरिकै अस्त पियौ गुन मानी।
कठिन परें ताझ में प्रगटे, ऐसे प्रभु सख-दानी।
ऐसें कहीं कहां लिंग गुन-गन, लिखत अंत निहं लिंहिए।
स्र तुम्हारी आसा निबहै, संकट में तुम साथै।
च्यौं जानी त्यौं करी, दीनकी बात सकल तुव हायै॥

(१५)

राग कान्हरौ

दीन-नाथ ग्रब बारि तुम्हारी।
पतित उधारन बिरद जानि कै, बिगरी लेहु संवारी।
बालापन खेलत ही खोयी, जुवा बिषय-रस मातें।
हद भए सुधि प्रगटी मोकीं, दुखित पुकारत तातेंं।

स्तिन तच्यी, तिय तच्यी, भात तच्यी, तन तें खच भई न्यारी। स्वन न सुनत, चरन-गित याकी, नैन भए जलधारी। पित किस, कप कंठ विरुंध्यी, कल न परित दिन-राती। माया-मोच न छांड़े खणा, ये दोज दुख-याती। श्रव यच विद्या दूरि करिवे कों श्रीर न समस्य कोई। स्रदास-प्रभु करुना-सागर, तुमतें चोद्र सो चोई॥

> (१६) राग सारंग

कीन गित करिही मेरी नाथ! हों ती कुटिल, कुचील, कुदरसन, रहत बिषय के साथ। दिन बीतत माया कें लालच, कुल-कुटंब कें हित। सिगरी रैनि नींद भिर सीवत जैसें पस अचेत। कागद धरिन, करें दुम लेखिन, जल-सायर मिस घोरें। लिखें गनेस जनम भिर मम कत, तक दोष निहं औरें। गज, गिनका अरु बिप्र अजामिल, अगनित अधम उधार। यहै जानि अपराध करें में तिनहं सीं अति भार। खिख लिखि मम अपराध जनम के, चित्रगुप्त अकुलाए। सगु रिषि आदि सनत चित्रत भए, जम सुनि सीस डुलाए। परम पुनीत-पवित्र, क्रपानिधि, पावन-नाम कहायी। सूर पतित जब सुन्यी बिरद यह, तब धीरज मन आयी।

(09)

राग देवगंधार

मोहिं प्रभु तुमसौं होड़ परी। ना जानौं करिही अब कहा तुम नागर नवल हरी। हुतीं जिती जग मैं अधमाई सो मैं सबै करी।
अधम-समूह उधारन-कारन तुम जिय जक पकरी।
मैं जु रह्यों राजीव-नैन, दुरि, पाप-पहार-दरी।
पावह मोहिं कहां तारन कों, गूढ़-गंभीर खरी।
एक अधार साधु-संगति की, रचि पचि मति संचरी।
याइ सींज संचि नहिं राखी, अपनी धरनि धरी।
मोकी मुक्ति विचारत ही प्रभु, पचिही पहर-घरी।
अम तें तुम्है पसीना ऐहै, कत यह टेक करी?
स्रदास विनती कह विनवै, दोषनि देह भरी।
अपनी विरद सम्हारहुगे ती याम सब निबरी॥

(१८) राग धनात्री

श्राजु हों एक-एक किर टिरहों।

के तुमहीं के हमहीं, माधी, श्रपने भरोसें लिरही।
हों ती पितत सात पीढ़िनि की, पितते हैं निस्तिरहों।
श्रव हों उघरि नची चाहत हो, तुन्हें विरद विन किरहीं।
कित श्रपनी परतीति नसावत, मैं पायी हिर हीरा।
स्र पितत तवहीं उठिहै, प्रभु, जब हंसि देही बीरा॥

(38)

राग सारग

प्रभु, हो सब पिततिन की टीकी। श्रीर पितत सब दिवस चारि के, हो तो जनमत हो की। बिधक, श्रजामिल, गिनका तारी श्रीर पूतना हो कीं। मोहिं छांड़ि तुम श्रीर उधारे, मिटै सूल क्यों जी की ? कोड न समरथ अघ करिबे कों, खेंचि कहत हों लोकी। मरियत लाज सूर पतितिन मैं, मोह्रं तें को नीकी॥

(२०)

राग नंगला तिताला

मो सम कीन कुटिल खल कामी।
तुम सीं कहा छिपी कर्नामय, सब के श्रंतरजामी।
जो तन दियी ताहि बिसरायी, ऐसो नोन-हरामी।
भिर भिर द्रोह बिषै कीं धावत, जैसें स्कर ग्रामी।
सिन सतसंग होत जिय श्रालस, बिषयिन संग बिसरामी।
श्रीहरि-चरन छांड़ि बिमुखनि की निसि-दिन करत गुलामी।
पापी परम, श्रधम, श्रपराधी, सब पतितनि मैं नामी।
स्रदास प्रभु श्रधम-डधारन सुनियै श्रीपति स्वामी॥

सुदामा-चरित

ं नरोत्तमदास (संवत् १५५० वि० — लगभग १६०५ वि०) ये करना नाड़ी जिला सीतापुरके रहनेवाले ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि ये सं० १६०२ तक वहां वर्तमान थे। ये अच्छे किव थे। इनकी बनायी दो काव्य-पुसकों हैं, 'सुदामा-चित्त' और भुव-चित्त। सुदामा-चित्तकी किवता नडी सुन्दर है। भाषा पिरमार्जित है और उससे इनकी प्रतिभाका परिचय मिलता है। यह छोटासा काव्य बहुत प्रसिद्ध है। भुवर्चारत नहीं मिलता।

(दोहा)

स्री--

महादानि जिनके हितू, जदु-कुल-कैरव-चंद। ति दारिद-संताप तें, रहैं न किमि निरदंद॥१॥ कह्यी सुदासा "वास! सुनु, वृथा श्रीर सब भोग। सत्यभजन भगवान को, धर्म-सहित जप-जोग"॥२॥

(कवित्त)

लोचन-कमल दुख-मोचन तिलक भाल,
सवनिन कुंडल मुझट घरे माथ हैं।
ओढ़े पीत-बसन गरे में वैजयंती-माल,
संख चक्र गदा और पद्म लिए हाथ हैं॥
कहत नरोतम संदीपनि गुरू के पास,
तुम ही कहत हम पढ़े एक साथ हैं।
हारका के गए हिर दारिद हरेंगे पिय,
हारिका के नाथ वै अनायन के नाथ हैं॥॥॥

(सवैया)

सुदामा-

सिच्छक ही सिगरे जग को तिय! ताको कहा अब देति है सिच्छा जे तप के परलोक सुधारत संपति की तिनके निहं इच्छा ॥ मेरे हिये हिर के पद-पंकज बार हजार ले देखु परिच्छा। औरन को धन चाहिय बाविर बांभन को धन केवल भिच्छा॥॥॥ बी—

दानी वड़े तिहुं लोकन मैं जग जीवत नाम सदा जिनको सै। दीनन की सुधि लेत भली विधि सिहि करी पिय मेरो मतो से॥ दीनदयाल के द्वार न जात सो श्रीर के द्वार पै दीन है बोले। श्रीयदुनाथ से जाके हितू सो तिहुं पन क्यों कन मांगत डोले ॥॥॥

सुदामा-

क्रितन के प्रन जुड, जुवा, सिंज बाजि चढ़ गजराजन ही। वैस को बानिज श्रीर क्षषी, प्रन सूद्र को सेवन-साजन ही॥ बिप्रन को प्रन है जु यही सुख संपित सीं कक्षु काज नहीं। कै पढ़िबो के तपोधन है कन मांगत बांभने जाज नहीं॥६॥ खी—

कोदो सवां जुरतो भरि पेट, न चाइति हों दिध दूध मिठीती।
सीत बितीत गयी सिसियाति हों इठती पै तुम्हें न इठीती॥
जी जनती न हितू हरि सो तुम्हें काहे को दारिक पेलि पठीती।
या घर तें न गयो कब इपिय। टूटो तवा अक फूटी कठीती॥॥॥
पूरन पैज करी प्रहलाद की खंभ सों बांध्यी पिता जिहि बेरे।
द्रीपदी ध्यान ध्रखो जबहीं तबहीं पट-कीट लगे चहुं फेरे॥
गाइ तें छूटि गयंट गयी पिय। है इरि को निहचे जिय मेरे।
ऐसे दारिद्र हजार हों वे क्यानिधि लोचन-कोर के हेरे॥॥॥
सदामा—

चक्कवै चौंकि रहे चिक-से तहां भूले-से भूप श्रनेक गनाजं।
देव गंधव श्री किन्नर जच्छ से सांभ लौं देखे खरे जिहि ठाजं॥
तै दरबार बिलोक्यो नहीं श्रव तोहि कहा कहिने समुभाजं।
रोकिए लोकन के मुखिया तहं हों दुखिया किमि पैठन पाजं॥८॥
हो—

भूले से भूप अनेक खरे रही ठाढ़े रही तिमि चक्क भारी।
देव गंध्रव श्री किन्नर जच्छ से रोक जे लोकन के अधिकारी॥
श्रंतरजामी वै आपुही जानि हैं मानी, यह सिख लेह हमारी।
दारिकानाथ के दार गए सब तें पहिं ले सुधि लैहें तुम्हारी॥१०।

सुदामा—

दीनदयाल को ऐसोई दार है दीनन की सुधि लेत सदाई।
द्रौपदी तें गज तें प्रहलाद तें जानि परी न बिलंब लगाई॥
याही तें भावत मो-मन दीनता जी निबहै निबही जस आई।
जी ब्रजराज सीं प्रीति नहीं केहि काज सुरेसह की ठक्कराई॥११॥
प्रीति मैं चूक न है उनके हरि मो मिलिहै उठि कंठ लगायकै।
दार गए कछु दैहै पे दैहै व दारिकानाथ जु है सब लायकै॥
या बिधि बीति गए पन है अब तो पहुंची बिरधापन आयकै।
जीवन केती है जाके लिए हरि सीं अब होहं कनावडी जायकै॥१२॥

हुजे कनावड़ो बार हजार-लौं जौ हितू दीनदयाल-सो पाइए। तीनहुं लोक के ठाकुर हैं तिनके दरबार न जात लजाइए॥ मेरी कही जिय मैं धरिके पिय! भूलि न श्रीर प्रसंग चलाइए। श्रीर के द्वार सो द्वार कहा पिय! द्वारिकानाथ के द्वारे सिधाइए॥१३॥

सुदामा-

दारिका जाहु जू दारिका जाहु जू आठहु जाम यहै भक तेरे।
जी न कहो करिए ती वडो दुख जए कहां अपनी गति हेरे॥
दार खरे प्रभु के छरिया तहं भूपति जान न पावत नेरे।
पांच सुपारी तें देखु विचारिके भेंट कीं चारि न चाडर मेरे॥१४॥

(दोचा)

यह सुनिके तब ब्राम्हनो, गई परोसिनि-पास। पाव-सेर चाउर लिए, श्राई सहित-इलास ॥१५॥ सिंडि करी गनपित सुमिरि, बांधि दुपिटया-खूंट।
मांगत खात चले तहां, मारग बाली बूट ॥१६॥
प्रात गोमती दरस तें, श्रित प्रसन्न भी चित्त।
बिप्र तहां श्रमनान करि, कीन्हो नित्त-निमित्त ॥१०॥
भाल तिलक घसिकै दियी, गही सुमिरनी हाथ।
देखि दिव्य द्वारावती, भयी श्रनाथ सनाथ ॥१८॥

(कवित्त)

दीठि चक्कों धि गई देखत सुवर्नमई,
एक तें सरस एक द्वारिका के भीन हैं।
पूछे बिन कोक कहं काइ सों न करें बात,
देवता-से बैठे सब साधि-साधि मीन हैं॥
देखत सुदामें धाय पीरजन गई पाय,
"क्षपा करि कहीं विप्र कहां की हों गीन है ?"
"धीरज अधीर के, इरन पर-पीर के,
बताओं बलबीर के महल यहां कीन हैं ?" ॥१८॥

(दोहा)

दीन जानि काइ पुरुष, कर गिंह लीन्हों श्राय। दीनिह दार खरो कियो दीनदाल के जाय ॥२०॥ द्वारपाल दिज जानि कै, कीन्हों दंडप्रनाम। "विप्र! क्षपा करि भाषिए, सकुल श्रापनो नाम"॥२१॥

'सुदामा---

नाम सुदामा क्षस्न हम, पढ़े एकई साथ। कुल पांड़े, ब्रजराज सुनि सकल जानिहैं नाथ॥२२॥ दारपाल चिल तहं गयी, जहां सम्न-जदुराय। हाय जोरि ठाढ़ो भयी, बोल्यो सीस नवाय॥२२॥

(सवैया)

द्वारपाल--

सीस पगा न भंगा तन मैं प्रसु । जाने को श्राहि । बसै केहि श्रामा । धोती फटी सी लटी-दुपटी श्रक् पाय उपानह की निहं सामा ॥ द्वार खरी दिज दुर्बल एक रह्यो चिक सो ब्रुक्ष श्रीस्रामा । पूछत टीनदयाल के धाम बतावत श्रापनी नाम सुदासा ॥२४॥

(कवित्त)

बोल्यो हारपालक 'सुदामा नाम पांडे' सुनि,
छोडे राज-काज ऐसे जी की गति जाने को ?
हारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पांय,
भेटे लपटाय करि ऐसे दुख-साने को ?
नैन दोज जल भरि पूछत कुसल हरि,
विप्र बोल्यो 'विपदा में मोहिं पहिचाने को ?
जैसी तुम करी तैसी करे को छपा के सिन्धु।
ऐसी प्रीति दीनबन्धु। दीनन सो माने को ?' ॥२५॥

(सवैया)

लोचन पृरि रहे जल सों प्रभु टूरि तें टेखत ही दुख मेळी। सोच भयी सुरनायक के कलपटुम के हिय मांफ खंखेळी॥ कंप कुवेर-हिये सरसी, परसे पग जात सुमेरु ससेळी। रंक तें राड भयी तबहीं जबहीं भरि श्रंक रमापति भेंळी॥२६॥

(दोहा)

भेंटि भली बिधि बिप्र सीं, कर गिह तिभुवनराय।

श्रन्तः पुर को ले गए, जहां न टूजो जाय॥२०॥

मिनमंडित चीकी कनका, ता ऊपर दैठाय।

पानी धर्मी परात मैं, पग-धोवन कों लाय॥२८॥

राज-रमिन सोरह-सहस, सह-सेवकन स-मीत।

श्राठी परानी भईं चिकता, चितै यह प्रीत॥२८॥

जिनके चरनन को सिलल, हरत जगत-संताप।

पांय सुदामा बिप्र की, धोवत ते हिर श्राप॥३०॥

(सवैया)

ऐसे बेहाल बेवाइन सीं पग कंटक जाल लगे पुनि जोए! 'हाय! महादुख पायौ सखा। तुम आए इते न किते दिन खोए। देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए। पानी परात को हाथ छुयौ नहिं नैनन के जल सीं पग धोए॥ ३१॥

परशुराम-लक्क्मण स्वाद

[तुलसीदास (संवत् १५ पट-१६ प० व०, — ये हिन्दीन सर्वभेष्ठ कि व हैं। इनकी किविताका प्रचार राजमहलसे लेकर गरीवकी भोपडीतक है। इतना गोरव किसी किवितों नहीं मिला। भाषापर इनका श्रमाधारण श्रीधकार था। भाव वर्ड ही उत्तम है। इनकी किवितामें सभी रसोका समावेश है, पर भिक्तरस प्रधान है। हिन्दी साहित्यके प्रसारमें इनसे जो सहायता मिली है उसके लिये हिन्दी संसार सदा इनका ऋणी रहेगा।]

श्रहणनयन सक्कटीकुटिल, चितवत तृपन सकोप। मनद्वं मत्तगजगण निरुख, सिंहिकिशोरिह चोप ॥१॥

खरभर देखि बिकल प्ररनारी। सब मिलि देहिं महीपन गारी॥ तेन्हि अवसर सुनि शिवधनुभंगा। त्राए भगुक्तलकमलपतंगा॥ देखि महीप सकल सक्तचाने। बाज भापट जनु लवा लुकाने ॥ गौर ग्ररीर भूति भलि भाजा। भारत विशास त्रिपुंडु विराजा ॥ शीश जटा शशि वदन सहावा। रिसिवश क्लुक अरुण होद आवा॥ भृक्तटीक्वटिल नयन रिसि राते। सहजिहं चितवत मनहु रिसाते॥ खषभकंध खर बाह्र बिशाला। चार जनेड माल सगकाला ॥ कटि मुनिबसन तूण दुइ बांधे। धनु शरकर क्षठार कल कांधे॥ शांति वेष करणी कठिन, वर्णा न जाय खरूप। धरि सुनितनु जनु वीररस, श्राएड जहं सब भूप ॥२॥

देखत भगुपति वेष कराला।

उठे सकल भयविकल भुवाला॥

पितुसमेत कहि कहि निज नामा।

लगे करन सबद एड प्रणासा॥

जिहि सुभाव चितवहिं हित जानी।
सो जाने जनु आयु खुटानी॥
जनक बहोरि आइ शिर नावा।
सीय बुलाइ प्रणास करावा॥
आश्रिष दीन्ह सखी हरषानी।
निजसमाज ले गई' सयानी॥
विश्वासित्र मिले पुनि आई।
पदसरोज मेले दोड भाई॥
राम लषण दश्ररथ के ढोटा।
दीन्ह अशीश जानि भल जोटा॥
रामहिं चितय रहे थिक लोचन।
छ्प अपार सारसदमोचन॥

बहुरि बिलोकि विदेहसन, कहहु कहा श्रित भीर। पूछत जान श्रजान जिमि, व्यापेड कोप श्ररीर॥३॥

ससाचार विह जनवा सुनाए।
जीह कारण महीप सब आए॥
सुनत बचन फिरि अनत निहारे।
देखे चापखंड महि डारे॥
अति रिस बोले बचन नठोरा।
काहुँ जड़ जनक धनुष केहि तोरा॥
विगि देखाड सूढ़ नतु आजू।
उलटों महि जहं लिग तब राजू॥
अति डर डतर देत नृप नाहीं।
काटिल सूप हरषे मन माहीं॥

सुर सुनि नाग नगर-नरनारी। मोचर्डि सकल द्वास उर भारी॥ मन पक्तितात सीय सहतारी। विधि मंवारि सब बात बिगारी ॥ भगुपतिकर सुभाव सुनि सीता। अर्धनिमेष कल्पसम बौता॥ सभय विलोके लोग सब, जानि जानकी भीर। म्हदय न हर्ष विषाद क्रु, बोले **श्रीर**ब्रबोर ॥४॥ नाय शक्ष्यनुभंजनहारा। होद्रहि कोड दक दास तुम्हारा॥ श्रायस कहा कहिय किन मोहीं। सुनि रिसाय बोले सुनि कोही॥ सेवक सो जो करें सेवकाई। ग्ररिकरणी करि करिय लराई॥ सुनच्च राम जेचि शिवधनु तोरा। सइसबाइसम सो रिपु मोरा॥ सो विलगाइ विहाद समाजा। नतु मारे जैहै सब राजा ॥ सुनि सुनिबचन लषण सुसकाने। बोले परग्रधरिहं अपमाने॥ बहु धनुही तोरेड' लरकांई। कबडुं न अस रिस कीन्ह गुसांई॥ द्रिह धनुपर समता नेहि हेतू। सुनि रिसाय कह भगुकुलकेतू॥

रे नृपबालक कालबश, बोलत तोहि न संभार। धनुहीसम त्रिपुरारिधनु, बिदित सकल संसार॥॥॥

> लषण कहा हंसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धतुष समाना॥ का चिति लाभ जीर्ण धन तोरे। देखा राम नये के भोरे॥ कूवत टूट रघुपति हिं न दोष्। मुनि बिनु काज करिय कत रोष् ॥ बोले चितद परश की श्रोरा। रे शठ सनीसि सभाव न मोरा॥ बालक बोलि बधौं नहिं तोहीं। नेवल सुनि जड़ जानेसि मोहीं॥ वालब्रह्मचारी अति कोही। विश्वविदित चत्रीक्तलद्रोही॥ भुजबल भूमि भूपबिनु कौन्हीं। विपुलवार महिदेवन दीन्हीं॥ सयसबाहुभुजछेदनिहारा। परग्र बिलोकु महीपकुमारा॥

मातुपिति जिन सोचवश, करिस महीपिकशोर। गर्भनके अर्भकदलन, परशु मोर अति घोर ॥६॥

बिहंसि लखन बोले सदु बानी।
श्रहो सुनीश महाभटमानी॥
पुनि पुनि मोहिं देखाव कुठारा।
चहत उड़ावन फूंकि पहारा॥

इहां कुम्हड़ बितया की उनाहीं। जो तर्जिन देखत मिरजाहीं॥ देखि कुठार शरासन बाना। में ककु कहा सहितश्रिभमाना॥ मगुकुल समुभि जनेज बिलोकी। जो ककु कहहु सहीं रिस रोकी॥ सर सहिसर हरिजन श्रक्त गाई। हमरे कुल इनपर न सराई॥ बधे पाप श्रपकीरित हारे। मारतह पां परिय तुम्हारे॥ कोटिकुलिशसम बचन तुम्हारा। हथा धरहु धनुबाण कुठारा॥

जो बिलोकि अनुचित कहेंड', चमहु महामुनि धीर। सुनि सरोष सगुवंशमणि, बोले गिरा गंभीर॥७॥

कीशिक सुनहु मन्द यह बालक।
कुटिल कालबंश निजकुलघालक॥
भानुवंशराकेशकलंकू।
निपट निरंकुश अबुध अशंकू॥
काल कवर होइहिं चणमाहीं।
कहीं पुकारि खोरि मोहिं नाहीं॥
तुम हटकहु जो चहहु उवारा।
कहि प्रताप बल रोष हमारा॥
लषण कहेड सुनि सुयश तुम्हारा।
तुमहिं अछत को बरणें पारा॥

अपने सुख तुम आपनि करणी। बार अनेक भांति बहु बरणी॥ नहिं संतोष तो पुनि ककु कहह। जनि रिस रोकि दुसह दुख सहह॥ बीरहत्ति तुम धीर अछोभा। गारी देत न पावह शोभा॥

शूर समरकरणी करिंह, किंह न जनाविहं ग्रापु। विद्यमान रण पाइ रिपु, कायर कथहिं प्रलापु ॥८॥

> तुम ती काल इांकि जनु लावा। बार बार मोहिं लागि बुलावा॥ सुनत लषण के बचन कठोरा। परश्च सुधारि धरेड कर घोरा ॥ अब जिन देइ दोष मोहिं लोगू। कटुबादी बालक बधयोगू॥ बाल बिलोकि बहुत मैं बांचा। अब यह मरनहार भा सांचा॥ कौशिक कहा चिमय अपराधू। बालदोषगुण गणिहं न साधू॥ कर कुठार मैं अकरन को ही। श्रागे अपराधी गुरुद्रोही॥ उतर देत छांड़ी विनुमारे। केवल कीशिक शील तुम्हारे॥ नतु यहि काटि कुठार कठोरे। गुरु हिं उरिन होतेउं अम घोरे॥

गाधिसुग्रन कह हृदय हंसि, सुनिहिं हरि ग्रेरे सूस । ग्रनगव खखेव जखनिमि, ग्रनहं न बूस ग्रद्भा ॥८॥

क्रिडेड लष्ण मुनि शील तुम्हारा। को नहिं जानृविदितसंसारा॥ मातुह्वि पितुह्वि उरिण भये नीके। गुर्कारेण रहा सोच वड जीके॥ सो जनु इमरेहिं माथे काढ़ा। दिन चिल गयस व्याज बहु बाढ़ा ॥ श्रव त्रानिय व्यवहरिया बोली। तुरत देउं मैं यैली खोली॥ सुनि कटु बचन कुठार सुधारा। हाहा करि सब लोग पुकारा॥ भगुवर परश दिखावह मोहीं। विप्र विचारि बचौ नृपद्रोही॥ मिले न कबहुं सुभट रणगाढ़े। द्विज देवताघर हिं के बाढ़े॥ अनुचित कहि सब लोग पुकारे। रघ्वपति सैनहिं लषण निवारे॥

लषण उतर आचुतिसरिस, भृगुपतिकोपक्षशानु । बढ़त देखि जलसम बचन, बोले रघुकुलभानु ॥१०॥

नाथ करह बालकपर छोइ।
ग्रंडदूधमुख करिय न कोइ॥
जोपै प्रभुप्रभाव ककु जाना।
तीकि बराबरि करत श्रयाना।

जी लिस्का कछ अनुचित करहीं।
गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं॥
करिय छपा शिश्व सेवक जानी।
तुम सम शील धीर मुनि ज्ञानी॥
रामवचन सुनि कछक जुड़ाने।
कहि कछ लवण बहुरि मुसकानी॥
हसत देखि नख शिखरिस व्यापी।'
राम तोरस्वाता बड़ पापी॥
गीर शरीर श्याम मनमाहीं।
कालकूटमुख पयमुख नाहीं॥
सहज टेढ़ अनुहरे न तोहीं।
नीच मीचसम लखे न मोहीं॥

लषण कहेउ हंसि सुनहु मुनि, क्रोध पापकरमूल। जेहिवश जन अनुचित करहिं, चरेहिं विष्वप्रतिकूल॥११॥

मैं तुम्हार अनुचर मुनि राया।
परिहरि क्रोध करिय अब दाया॥
ट्रट चाप निहं जुरिहं रिसाने।
बिठय होइहिं पांय पिराने॥
जी अति प्रिय तो करिय उपाई।
जीरिय कोड बड़ गुणी बुलाई॥
बोलत लषणहिं जनक डेराहीं।
मष्ट करह अनुचित भल नाहीं॥
थर थर कांपहिं पुरनरनारी।
छीट कुमार खोट अति भारी॥

भगुपित मुनि सुनि निर्भय बानी।
रिस तनु जरे होइ बलहानी॥
बोले रामहिं देइ निहोरा।
बची विचारि बंधु लघु तोरा॥
मन मलीन तनु सुन्दर कैसे।
विषरस भरा कनकघट जैसे॥

सुनि लच्मण विश्वंसे बहुरि, नयन तरेरे राम। गुरुसमीप गवने सकुचि, परिश्वरि बाणी वाम॥१२॥

> अतिविनीत सदु शीतल बाणी। बोले राम जोरि युगपाणी॥ सुनचु नाथ तुम सच्च सुजाना। बालकवचन करिय निहं काना॥ बररे बालक एक सभाज। दनहिं न सन्त विदूषहिं काऊ ॥ तिन्ह नाहीं कक्षु काज विगारा। अपराधी मै नाथ तुम्हारा॥ क्रपा कीप बध बंधु गुसांई। मोपर करिय दास की नांई॥ कहिय वैगि जीहिविधि रिस जाई। मुनिनायक सोद करिय उपाई॥ कह सुनि राम जाद रिस कैसे। **ग्रजहुं** ग्रनुज तव चितव ग्रनैसे ॥ े यहिके कंठ कुठार न दीन्हा। तो मैं कहा कोप करि कीन्हा॥

गर्भ सवहिं अवनिपरमनि, सुनि कुठारगति घोर। परग्र अक्टत देखौं जियत, वैरी भूपकिशोर॥१३॥

बहै न हाथ दहै रिस काती। भा कुठार कुच्छित नृपघाती॥ भयड वाम विधि फिरेड सुभाक। े मोरे हृदय क्रपा कस काज ॥ त्राजु दैव दुख दुसह सहावा। सुनि सौमित बिहंसि शिर नावा॥ नाथ कपामूरति अनुसूला। बोलत बचन भरत जनु फ्ला॥ जीपै क्षपा जरे सुनिगाता। क्रोध भये तनु राख विधाता ॥ देख जनक इठि बालक एइ। कीन्ह चहत जड़ यमपुर गेइ ॥ विगि कार्च किन आंखिन ओटा। देखत छोट खोट नृपढोटा ॥ विहंसे लषण कहा सुनि पाहीं। मूंदिय श्रांखि कतहुं को नाहीं ॥

परश्रराम तब राम प्रति, बोली बचन सक्रोध। श्रंभु सरासन तोरि श्रठ, करसि हमार प्रबोध॥१४॥

बंधु कहै कटु समात तोरे।
तू छल विनय करिस करजोरे॥
कर परितोष मोर संग्रामा।
नाहित छांडु कहाउब रामा॥

क्ल तिज कर इसमर शिवद्रोही।
बंधुसहित नतु मारों तो ही॥
स्गुपति कहिं कुठार उठाए।
मन मुसुकाहिं राम शिर नाए॥
गुनहु लषणकर हमपर रोषू।
कतहुं सुधाइ हुं ते बड दोषू॥
टेढ जानि शङ्घा सब का हः।
वक्रचंद्रमहिं ग्रसे न राहः॥
राम कहेड रिस तिजय सुनीशा।
कर कुठार आगे यह शीशा॥
जीहि रिस जाय करिय सोइ खामी।
मोहिं जानि आपन अनुगासी॥

प्रभुसेवकिहं समर कस, तजह विषवर रोष। वेष बिलोकि कहिसि कछ, बालकह निहं दोष ॥१५॥

देखि कुठार बाण धनुधारी।
भद्र लिकिहिं रिस वीर बिचारी॥
नाम जान पै तुमिहं न चौन्हा।
बंग्रसुभाव उतर तेहि दौन्हा॥
जी तुम अवतेहु मुनिकी नांई।
पदरज शिर शिंग्र धरत गुसांई॥
इमहु चूक अनजानत केरी।
चित्रय विप्रखर क्षपा घनेरी॥
इमिहं तुमिहं सरवर कस नाथा।
कहहु तो कहां चरण कहं माथा॥

राममात लघु नाम हमारा। परश्रमहित बड़ नाम तुम्हारा ॥ देव एकगुण धनुष हमारे। नवगुण परम प्रनीत तुम्हारे॥ सब प्रकार इस तुमसन हारे। चमह बिप्र अपराध हमारे॥ बारबार सुनि विप्रवर, कहा राससन रास। बोली सगुपति सरुष होइ, तुईं बस्यसम बाम ॥१६॥। निपट हिं दिज करि जाने सो हीं। मैं जस विप्र सुनावौं तो हीं। चाप श्रुवा शर श्राइति जान्। कीप मीर अति घीर क्रशान्॥ समिध सेन चतुरङ्ग सुहाई। महामहीप भए पग्र श्राई॥ मैं यहि परग्र काटि बलि दीन्हा। समरयज्ञ जग कोटिन कीन्हा ॥ मोर प्रभाव विदित निहं तोरी। बोलेसि निदरि विप्रके भोरे॥ भन्ने उचाप दाप बड़ बाढ़ा। श्रहमिति मनहुं जीति जग ठाटा ॥ राम कहा सुनि कहह विचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक इमारी॥ कुवति टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करों अभिमाना ॥

जी इस निदरिष्टं विप्रवर, सत्य सुनहु स्गुनाय। ती त्रस को जग सुभट जीहि, भयवश नाविहं माय॥१०॥

> देव दनुज भूपति भट नाना । समवल ऋधिक होउ बलवाना॥ जो रण इमिहं प्रचार कोज। लरिहं सुखेन काल कि न होज॥ चित्रयतनु धरि समरसकाना । क्रलकलङ्क तेहि पामर जाना॥ कहीं स्वभाव न ज़लहिं प्रसंशी। कालचु डरच्चिं न रण रघ्ववंशी॥ विप्रवंशकी अस प्रभुताई। अभय होइ जो तुमहिं डराई॥ सुनि सदु गूढ़ वचन रघुपतिके। 'उघरे पटल परग्रधरमतिके॥ रामरमापति कर धनु लेह। खैचहु चाप मिटै सन्देइ॥ देत चाप श्रापिं चढ़ि गयक। परश्रराम मनविस्मय भयज ॥

जाना रामप्रभाव तब, पुलिक प्रफुक्तित गात। जोरि पाणि बोले वचन, प्रेम न हृदयसमात॥१८॥

जय रघुवंश-वनज-वनभान्।
गद्दन दनुजकुल-दहन-क्षशान्॥
जय सुरविप्रधेनुहितकारी।
जय मद मोह कोह भ्रमहारी॥

विनयशील करुणागुणसागर।

जयित बचनरचना ऋति नागर॥

सेवकसुखद सुभगसबग्रङ्गा।

जय भरीरक्षिविकोटिश्रनङ्गा॥

करीं कहा सुख एक प्रशंसा।

जय सहेश्रमनमानसहंसा॥

श्रनुचित बहुत कहेड' श्रज्ञाता।

चमहु चमामंदिर दोड स्नाता॥

कहि जय जय जय रघुकुलकेत्।

स्गुपति गये बनहिं तपहेत्॥

श्रव भय कुटिल महीप डराने।

जहं तहं कायर गवहिं पराने॥

देवन दोन्हीं दुंदुभी, प्रभुपर वर्षहिं पूल।

हरषे पुरनरनारि सब, मिटा मोह भय श्र्ल॥१८॥

विनय-पतिना

[गांखामी तुलसीदःस]

(8)

माधव, मो समान जग माहीं।
सब विधि होन, मलीन, दीन श्रति, लीन-बिषय कोड नाहीं॥१॥
तुम सम हेतु-रहित क्रपालु श्रारत-हित ईस न त्यागी।
मैं दुख-सोक-बिक्रल, क्रपालु केहि कारन दया न लागी॥२॥

नाहिंन कछ श्रीगुन तुम्हार, श्रपराध मीर मैं माना।
ग्यान-भवन तनु दिये हुनाय, सीड पाय न मैं प्रभु जाना ॥३॥
वेनु करील, श्रीखण्ड वसन्ति हूपन सृषा लगावै।
सार-रहित हत-भाग्य सुर्भि, पत्तव सो कहु किमि पावै॥४॥
सब प्रकार मैं कठिन, सृदुल हरि, दृढ़ विचार जिय मोरे।
तुलसिदास प्रभु मोह-शृङ्खा, छुटिहि तुम्हारे छोरे॥॥॥

(२)

माधव, मोइ-पास कें क्यों टूटै।
वाहर कोटि उपाय करिय अभ्यंतर ग्रन्थ न कूटै॥१॥
प्रतपूरन कराह श्रंतरगत ससि-प्रतिविक्व दिखाव।
इंधन अनल लगाय कल्पसत, श्रोंटत नास न पाव॥२॥
तक्-कोटर महं बस बिहंग तक काटे मरे न जैसे।
साधन करिय विचार-होन मन, सुद्ध होइ निह तैसे॥३॥
श्रंतर मिलन, विषय मन श्रित, तन पावन करिय पखारे।
मरद न उरग अनेक जतन बलमीकि बिबिध विधि मारे॥४॥
तुलसिदास हरि-गुक्-करना विनु, विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार-घोर-निधि, पार न पावे कोई॥॥॥

(₹)

माधव ग्रसि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पिच मरिय, तरिय निहं, जब लगि करहु न दाया॥१॥
सुनिय, गुनिय, ससुभिय, ससुभाइय, दसा हृदय निहं ग्रावै।
जिहि ग्रनुभव बिनु मोइजनित भव, दारुन बि्पति सतावै॥२॥

ब्रह्म-पियूष मधुर सीतल जोपै मन सो रस पावै। ती कत सगजल-रूप विषय कारन निसिबासर धावै॥३॥ जिह्नि भवन बिमल चिंतामिन सो कत कांच बटोरै। सपने परवस परै जागि देखत केहि जाइ निहोरै॥४॥ ग्यान भित्त साधन अनेक सब सत्य, भूठ कछ नाहीं। तुलसिदास हरि-छपा मिटै भ्रम, यह भरोस मनमाहीं॥५॥

(8)

हे हरि, कवन दोष तोहि दीजै।
जीहि उपाय सपनेष्ठं दुरलभ गित, सोद निसिबासर कीजै॥१॥
जानृत अर्थ अनर्थ-रूप, तमकूप परव यहि लागे।
तदिप न तजतं खान अज खर ज्यों, फिरत विषय अनुरागे॥२॥
भूत-द्रोह कत मोह-वस्य हित आपन मैं न बिचारो।
मद-मत्सर-अभिमान ग्यान-रिप्र, इन महं रहिन अपारो॥३॥
वेद-पुरान सनत समुभत रह्यनाथ सकल जगव्यापी।
वेधत निहं श्रीखंड वेनु इव, सारहीन मन पापी॥४॥
मैं अपराध-सिंधु, कर्तनाकर! जानत अंतरजामी।
तुलसिदास भव-व्याल-यसित तव सरन डरग-रिप्र-गामी॥॥॥

(빛)

हे हिर, कवन जतन सुख मानहुं। ज्यों गज-दसन तथा मम करनी, सब प्रकार तुम जानहु॥१॥ जो कछु कहिय करिय भवसागर तिरय बत्सपद जैसे। रहिन ज्ञान बिधि, कहिय ज्ञान, हिरिपद-सुख पाइय कैसे॥२॥ देखत चारु मयूर बैन सुभ बोल सुधा द्रव सानी।
सविष, उरग-श्राहार निठुर श्रस, यह करनी वह बानी॥शा
श्रिखल-जीव-वस्नल निरमत्नर, चरन-कमल-श्रनुरागी।
ते तव प्रिय रघुबीर धीरमित, श्रितसय निज-पर-त्यागी॥॥
जद्यपि सम श्रीगुन श्रपार संसार-जोग्य रघुराया।
तुलसिदास निजगुन विचारि कर्नानिधान कर दाया॥॥॥

(&)

हे हरि, कवन जतन भ्रम भागे।
देखत सुनत बिचारत यह मन, निज सुभाउ निहं त्यागे॥१॥
भिक्ता, ग्यान, बैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई।
कोउ भल कहुउ, देउ कछ कोज, श्रस बासना हृदय ते न जाई॥२॥
जीह निसि सकल जीव स्तिहं तव कपापात जन जागे।
निज करनी बिपरीत देखि मोहि, समुिक महाभय लागे॥३॥
जद्यपि भग्नं मनोर्थ विधिवस, सुख इच्छत दुःख पावै।
चित्रकार करहीन जथा खारथ बिनु चित्र बनावै॥४॥
हृषीकेस सुनि नाम जाउं बिल, श्रति भरोस जिय मोरे।
तुलसिदास इंद्रिय-संभव दुख, हरे बनिहि प्रभु तोरे॥६॥

(@)

हे हरि, कस न हरह स्वम भारी। जद्यपि सृषा सत्य भारी जब लगि नहिं क्या तुम्हारी॥१॥ अर्थ अविद्यमान जानिय संस्ति नहि जाई गुसाई। विन वांधे निज हठ सठ परवस पृष्णो कीर की नाई।॥२॥ सपने ब्याधि विविध वाधा जनु सृत्यु उपस्थित आई। वैद अनेक उपाय करे जागे विनु पीर न जाई ॥३॥ स्रुति-गुरु-साधु-स्मृति-संमत यह दृश्य सा दुखकारी। तेहि विनु तजे, भजे विनु रह्यपति, विपति सकै को टारी॥४॥ वहु उपाय संसार-तरन कहं विमल गिरा सृति गावै। तुलसिदास मैं-मोर गये विनु जिउ सुख कवहुं न पावै॥५॥

(5)

जी निज मन परिहरे बिकारा।
ती कत दैत-जनित संस्रति-दुख संसय सोक अपारा॥१॥
सतु मित्र मध्यस्थ तीनि ये, मन कीन्हें वरिआई।
त्यागन गहन उपच्छनीय, अहि हाटक त्वन की नाई ॥२॥
असन, बसन, पसु, बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महं रह जैसे।
सरग नरक चर अचर लोक बहु, बसत मध्य मन तैसे॥३॥
बिटप-मध्य पुतरिका, स्त महं कंचुिक बिनहिं बनाये।
मन महं तथा लीन नाना तनु, प्रगटत अवसर पाये॥४॥
रष्ठपित-भिक्त-बारि-छालित चितं, बिनु प्रयास ही स्भौ।
तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूभत बूभत बूभी ॥५॥

(&)

क्चिर रसना तू राम राम क्यों न रटत।
सुमिरत सुख सुक्षत बढ़त श्रघ श्रमंगल घटत॥१॥
बिनु स्नम कालि-कालुष-जाल काटु काराल काटत।
दिनकर के उदय जैसे तिमिर तोम फटत॥२॥

जोग जाग जप बिराग तप सतीर्थ ग्रटत। बांधिवेको भव-गयन्द रेतु कि रज्ज बटत॥३॥ परिचरि सर-मनि सनाम गुंजा लखि लटत। लालच लघु तेरो लखि तुलसि तोहिं इटत॥४॥

(१०)

राम राम, राम राम, राम राम, जपत
मंगल मुद छदित होत, किल-मल-छल छपत
कह के लहे पल रसाल, बबुर-बीज बपत।
हारिह जिन जनम जाय गाल गूल गपत॥२॥
काल करम गुन सुभाउ सबके सोस तपत।
राम-नाम-महिमा की चरचा चले चपत॥३॥
साधन बिनु सिहि सकल बिकल लोग लपत।
कालिजुग बर बनिज बिपुल नाम-नगर खपत॥४॥
नाम सों प्रतीति प्रीति हृदय सुधिर धपत।
पावन किये रावन-रिपु तुलसिष्टुं से अपत॥४॥

(११)

मैं इरि, पतित-पावन सने।
मैं पतित तुम पतित-पावन दोड बानक बने॥१॥
व्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमिन भने।
श्रीर अधम अनेक तारे जात कापै गने॥२॥
जानि नाम अजानि लोव्हें नरक जमपुर मने।
दासतुलसी सरन आयो, राखिये अपने॥३॥

(११)

जो पै जिय जानकी-नाथ न जाने।
ती सब करम धरम समदायक ऐसेंद्र कहत संयाने ॥१॥
जे सुर, सिंह, मुनीस, जोगबिद बेद पुरान बखाने।
पूजा खेत देत पखंटे सुख हानि-लाभ अनुमाने॥२॥
काको नाम धोखेंद्र सुमिरत पातकपुंज सिराने।
बिप्र, बिंधक, गज, गीध कोटि खल कीन के पेट समाने॥३॥
मेरु से दोष दूरि करि जन के, रेनु से गुन डर आने।
तुखसिदास तेहि सकल आस तिज भजहि न अजहुं अयाने॥॥॥

(१३)

काह न रसना, रामहिं गावहि ?

निसिदिन पर-अपवाद ख्या कत रिट रिट राग बढ़ाविह ॥१॥

नरमुख सुन्दर मंदिर पावन बिस जिन ताहि लजाविह ।

सिस समीप रिष्ठ त्यागि सुधा कत रिवकर-जल कहं धाविह ॥२॥

काम-कथा किल-करव-चंदिनि सुनत स्रवन दे भाविहं ।

तिनिहं हटिक कि हिर-कल-कौरित करन-कलंक नसाविह ॥३॥

जातरूप-मित जुगुति रुचिर मिन रिच रिच हार बनाविह ।

सरन-सुखद रिवकुल-सरोज-रिव राम न्यिहं-पहिराविह ॥४॥

बाद-विवाद-खाद तिज भिज हिर सरस चरित चित लाविह ।

तुलसिदास भव तरिह, तिह्रं पुर तू पुनौत जस पाविह ॥॥॥

(88)

जाको हरि दृढ़ करि अङ्ग कर्छो। सोद्र सुसील पुनीत बेदबिद, बिद्या-गुननि-भर्खो॥१॥ उतपति पांडु-तनय की करनी सुनि सतपंथ डखो।
ते तेलोक्य-पूज्य, पावन जस सुनि सुनि लोक तखो॥२॥
जो निज धरम वेद-बोधित सो करत न कछ बिसखो।
बिनु अवगुन क्षकलास कूप-मिक्जित कर गिंह उधखो॥३॥
ब्रह्म-बिसिख ब्रह्मांड-दइन-क्षम गर्भ न नृपति जखो।
अजर अमर कुलिसइं नाहिंन बध सो पुनि फेन मखो॥४॥
बिप्र अजामिल अरु सुरपित तें कहा जो निहं बिगखो।
उनको कियो सहाय बहुत, उर को संताप हखो॥५॥
गनिका अरु कंदरप तें जग महं अघ न करत उबखो।
तिनको चरित पबित्र जानि हरि निज हृदि-भवन धखो॥६॥
केहि आचरन भलो मानै प्रभु सो तौ न जानि पछो।
तुलसिदास रघुनाथ-क्रपा को जीवत पंथ खखो॥७॥

(१५)

सोद सकती सचि सांचो जाहि, राम ! तुम रीमे।
गिनका, गीध, बिधक हरिपुर गये, सै करसी प्रयाग कब सीमे ॥१॥
कबहुं न डग्यो निगम-मग तें पग, नृग जग जानि जिते दुख पाये।
गजधी कीन दिकित जाने सुमिरत, सै सुनाभ बाहन तिज धाये॥२॥
सर मुनि बिप्र बिहाय बड़े कुल, गोकुल जनम गोपग्टह लीन्हों।
बायों दियो बिभव कुरुपित को, भोजन जाद्र बिटुर-घर कीन्हों॥३॥
मानत भलिह भलो भगतिन तें, ककुक रीति पारधिहं जनाई।
तुलसी सहज सनेह राम बस, श्रीर सबै जल की चिकनाई॥॥॥

वन्दक्ष दोह

[इन्द (संवत् १७३०-१८०० वि०)—ये क्षण्गढने महाराज राजिसंहने गुरु थे। इनको भावपूर्णे किवता सुनकार लोग इनका वडा श्रादर करने लगे थे। इनके होहे नीति-संबधी है। इनकी 'स्तसई' बहुत प्रसिद्ध है।

नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात। जैसे बरनत युद्ध में, रस खुङ्गार न सुहात ॥१॥ फीकी पै नीकी लगे, कहिये समय बिचारि। सब को मन इर्षित करे, ज्यों विवाह मैं गारि ॥२॥ जो जाको गुन जानही, सो तिहिं श्राटर देत। कोकिल अंबहि लेत है, काग निबौरी हेत ॥३॥ जाही ते कछ पाइये, करिये ताकी श्रास। रीते सरवर पै गये, कैसे बुभत पियास ॥४॥ गुन हो तक मंगाइये, जो जीवन सुख भीन। त्राग जरावत नगर तड, त्राग न त्रानत कीन ॥५॥ रस अनरस समभी न ककु, पढ़े प्रेम की गाथ। बीकू मन्त्र न जानहीं, सांप पिटारे हाथ ॥६॥ कैसे निबद्दै निबस जन, कर सबसन सों गैर। जैसे बस सागर् विषे, करत मगर सों बैर ॥७॥ टीबो अवसर को भलो, जासीं सूधरै काम। खेती सूखे बरसिबो, घन को कौने काम ॥८॥ ग्रपनी पहुंच विचारि कै, करतव करिये दौर। तेते पांव पसारिये, जेती लांबी सीर ॥८॥

HINDI SELECTIONS

पिसुन छल्यो नर् सुजन सीं, करत विसास न चूकि जैसे दाध्यो दूध को, पीवत छांछि फूंकि ॥१०॥ ई विद्याधन उद्यम विना, कही जु पावै कीन। विना डुलाये ना मिले, ज्यां पंखा को पीन ॥११॥ श्रोक्के नर की प्रीति की, दीनी रीति बताय। जैसे छीलर ताल जल, घटत घटत घट जाय ॥१२॥ वुरे लगत सिख के बचन, हिये विचारो आए। कर्वी भेषज विन पिये, मिटै न तन की ताप ॥१३॥ गुरुता लघ्वता पुरुष की, श्रास्यय वशतें हीय। करी हं द में विध्य सीं, दर्पन में लघ्व सीय ॥१४॥ रहे समीप वड़ेन के, होत वड़ो हित मेल। सबही जानत बढ़त है, हच बराबर वेल ॥१५॥ फिर न है है कपट सों, जो कीजे व्यीपार। जैसे हांडी काठ की, चढ़े न दूजी बार ॥१६॥ करिये सुख को होत दुख, यह कही कीन सयान। वा सोने को जारिये, जासों टुटे कान ॥१७॥ नयना देत बताय सव, हिय की हेत ऋहेत। जैसे निर्मल श्रारसी, भली बरी कहि देत ॥१८॥ श्रति परचै ते होत है, श्रहचि श्रनादर भाय। मलयगिरि की भीलनी, चंदन देति जराय ॥१८॥ भले वुरे सब एक सीं, जी लीं बोलत नाहिं। जानि परतु हैं काक पिक, ऋतु वसंत के माहिं ॥२०॥ हितइ की कहिये न तिहि, जी नर होय अबीध। च्यों नकटे को आरसी, होत दिखाये क्रोध ॥२१॥

सबै सहायक सबल की, कोछ न निबल सहाय। पवन जगावत त्राग को, दीपहिं देत बुभाय ॥२२॥ कक् बसाय निहं सबलसीं, करै निबल पर जीर। चले न अचल उखार तरु, डारत पवन भाकीर ॥२३॥ रोष मिटे कैसे कहत, रिस उपजावन बात। र्द्रंधन डारे त्रागमां, कैसे त्राग बुक्तात ॥२४॥ जो जीह भावे सो भलो, गुन को ककु न विचार। तज गजमुकता भीलनी, पहिरति गुंजा हार ॥२५॥ दुष्ट न छांड़े दुष्टता, कैसे इं सुख देत। धोये हं सी बेर के, काजर होत न सेत ॥२६॥ जाको जैसी उचित तिहिं, करिये सोद बिचारि। गीदर कैसे ल्याइ है, गजमुत्ता गज मारि ॥२७॥ जैसे बंधन प्रेम को, तैसो बंध न श्रीर। काठि भेदै कमल को, छेद न निकर भीर ॥२८॥ जे चेतन ते क्यों तजें, जाको जासीं मोह। चुंबक के पीछे लग्यो, फिरत अचेतन लोह ॥२८॥ जो पावै ग्रति उच पद, ताकी पतन निदान। च्यों तिप तिप मध्याक्कलों, श्रस्त होतु है भान ॥३०॥ जिहि प्रसंग दूषन लगे, तजिये ताको साथ। मदिरा मानत है जगत, दूध कलाली हाय ॥३१॥ जाने संग दूषण दुरै, निरये तिहि पहिचानि। ्जैसे समभी दूध सब, सुरा श्रहीरी पानि ॥३२॥ मूरख गुन समभी नहीं, ती न गुनी में च्का। वाहा घट्यो दिन को विभी, देखें जी न उसक ॥३३॥

करै बराई सुख चहै, कैसे पावै कोइ। रोपै बिरवा श्राक को, श्राम कहां ते होइ ॥३४॥ बहुत निबल मिल बल करें, करें ज़ चाहें सोय। तिनकन की रसरी करी, करी निबन्धन होय ।३५॥ सांच भूठ निर्णय करे, नीति निपुन जो होय। राजहंस विन को करे, छीर नीर को दोय ॥३६॥ दोषहिं को उमहै गहै, गुन न गहै खललोक। पियै रुधिर पय ना पियै, लागि पयोधर जोंक ॥३७॥ कारज धीरे होत् है, काहे होत श्रधीर। समय पाय तरुवर फलै. केतक सींचो नीर ॥३८॥ क्यों कीजे ऐसी जतन, जाती काज न होय। परबत पर खोदै कंग्रा, कैसे निकसै तीय ॥३८॥ बीर पराक्रम ना करे, तासीं डरत न कोइ। बालकह को चित्र को, बाघ खिलीना होद ॥४०॥ उत्तम जन्रेसों मिलत ही, अवगुन सो गुन होय। घनसंग खारो उदिध मिलि, बरसै मौठो तोय ॥४१॥ करत करत अभ्यास के, जडमित होत सर्जान। रसरी आवत जात तें, सिल पर परत निसान ॥४२॥ भली करत लागति विलम, विलम न बुरे विचार। भवन बनावत दिन लगै, ढाइत लगत न बार ॥४३॥ कुल सपूत जान्यो परे, लिख् सुभ लच्छन गात। होनहार बिरवान के, होत चीकने पात ॥४४॥ छोटे मन में श्राय हैं, कैसे मोटी बात। छेरी के मुंहमें दियी, ज्यों पेठा न समात ॥४५॥

होत निबाह न श्रापनी, लीने फिर समाज। चूहा बिल न समात है, पूंछ बांधिये छाज ॥४६॥ क्क कि नीच न केडिये, भलो न वाको सङ्ग। पायर डारे कीच में, उछरि बिगारे श्रङ्ग ॥४०॥ जपर दरसे सुमिल सो, अन्तर अनमिल आंक। कपटी जन की प्रीति है, खीरा की सी फांक ॥४८॥ सब सीं श्रागे होय कै, कबहुं न करिये बात। सुधरे काज समाज फल, बिगरे गारी खात ॥४८॥ बुरी तक लागत भली, भली ठीर पर लीन। तिय नैननि नीकी लगे, काजर जदिप मलीन ॥५०॥ चमा खड्ग लीने रहै, खल को कहा बसाय। श्रगिन परी त्वनरहित थल, श्रांपहि ते बुभि जाय ॥५१॥ ग्रोक्टे नर के पेटमें, रहै न सोटी बात। श्राध सेर के पात्र में, कैसे स्रेर समात ॥५२॥ बचन रचन कापुरुष के, कहे न छिन ठहराय। ज्यों कर पद सुख कङ्पके, निकसि निकसि दुर जाय ॥५२॥ जूवा खेले होतु है, सुख सम्पति को नास। राजकाज नल ते छुट्यो, पांडव किय बनवास ॥५४॥ सरस्वति के भंडार की, बड़ी अपूरव बात। च्यों खरचे त्यों त्यों बढ़ै, बिन खरचे घटि जात ॥५५॥ बिरह पीर व्याकुल भए, श्रायो पीतम गेह। जैसे त्रावत भाग ते, त्राग लगे पर मेह ॥५६॥ भले बंस को पुरुष सो, निसुरै बहु धन पाय। नवै धनुष सदबंस को, जिहिं है कोटि दिखाय ॥५०॥

लोकन के अपवाद को, डर करिये दिनरैन।
रघुपति सीता परिहरी, सुनत रजकके बैन ॥५८॥
कहा कही विधि को अविधि, भूले परे प्रबीन।
सूरख को सम्पति दई, पंडित संपतिहीन ॥५८॥
वह संपति केहि काम की, जिन काइ पै होड।
नित्य कमावै कष्ट करि, बिलसै औरिह कोड॥६०॥
त्वनहं ते अरु तूलते, हर्नो याचक आहि।
जानतु है कछु मांगि है, पवन उड़ावत नाहिं॥६१॥
सेदय नृप गुरु तिय अनिल, मध्य भाग जग माहिं।
है विनाश अति निकृट तें, दूर रहे फल नाहिं॥६२॥

नौति-सामयिक उपदेश

ं कुग्डलियाँ

शिरिधर किंदराय (सवत् १७७०-लगभग १८४४ वि०)—इनकी कुडालया बहुत प्रसिद्ध हैं। प्राय सभी नीति-विषयक हैं तथा वड़ी ही लोकप्रिय हैं। इनकी किंदिताकी भाषा सरल और स्पष्ट हैं। इनकी भाषांस इनका जन्मस्थान कहो अध्यम होनेका अनुमान किया जाता है, पर इनकी जीवनके विषयमें कुछ भी नहीं जाना जाता। कहा जाता है कि राजासे रूप होकर ये छनके राज्यमें न रहने की इच्हासे अपना घरदार होड़ समय करने लगे। छसी समयके समय कुडिलयोकी रचना की। कहते हैं कि स्त्री-पुरुषने मिलकर रचना को थी और जिन कुडिलयोकी प्रारम्भमें 'साई ' यद्ध है, वे सम गिरिधरकी स्त्रीकी रची हुई हैं।

बिना विचार जो करे, सो पाछे पछिताय।

काम बिगारे आपनो, जग में होत हंसाय॥

जग में होत हंसाय, चित्त में चैन न पावै।

खान पान सनमान, राग रंग मनहिं न भावै॥

कह गिरिधर कविराय, दु:ख कछ टरत न टारे।

खटकत है जिय माहिं, कियो जो बिना विचारे॥१॥

बीती ताहि बिसारिदे, श्राग की सुधि लेंड। जो बिन श्रावै सहज में, ताही में चित देड॥ ताही में चित देड, बात ज्यों हीं बिन श्रावै। दुर्जन हंसे न कोय, चित्त में खेद न पावै॥ कह गिरिधर कविराय, यही कर मन परतीती। श्राग को सुख होय, समभ बीती सो बीती॥२॥

साई ये न विरु डिये, गुरु पिर्डित कवि यार। वेटा विनता पौरिया, यज्ञ करावनहार॥ यज्ञ करावनहार, राजमंत्री जो होई। विप्र परोसी बैद, आपको तपै रसोई॥ कह गिरिधर कविराय, यहै कैसी समुभाई। इन तरह ते तरह, दिये बनि आवै साई ॥ ॥

साई अपने चित्त की, भूल न किय कीय।
तब लग मन में राखिये, जब लग कारज होय॥
जब लग कारज होय, भूल कबहं निहं कि हिये।
दुर्जन तातो होय, आप सीरे है रहिये॥

कह गिरिधर कविराय, बात चतुरन के ताई'। करतूती कहि देत, श्राप कहिये नहिं साई'॥४॥

चिंताच्वाल शरीरबन, दावा लिंग लिंग जाय।
प्रकट ध्रुवां निहं देखिये, उर अन्तर ध्रुंध्रुवाय॥
उर अंतर ध्रुंध्रुवाय, जर ज्यों कांच की भट्टी।
जर गयो लोइ मांस, रह गई हाड़ की ठट्टी॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो रे मेरे मिंता।
व नर कैसे जियें, जाहि तन व्यापत चिंता॥॥॥

राजा के दरबार में, जैये समयो पाय।
साई तहां न बैठिये, जहं कोड देय उठाय॥
जहं कोड देय उठाय, बोल अनबोले रिहये।
हंसिये ना हंहराय, बात पूंछेते किहये॥
कह गिरिधर किवराय, समय सों कीजै काजा।
अति आतुर निहं होय, बहुरि अनखे हैं राजा॥६॥

सर्वस आगे राखिये, तक न अपनो होय ॥
तक न अपनो होय, भले की भली न मानै।
काम काढ़ि चुप रहै, फिर तेहि नाहिं पिछाने॥
कह गिरिधर कविराय, रहत नितही निर्भय मन।
सित्र शतु सब एक, दाम के लालच क्रतवन॥७॥

जाकी धन धरती लई, ताहि न लीजै संग। जौ संग राखे ही बने, ती करि राख अपंग॥ ती किर राख अपंग, फेरि फरके सो न की । क्यार क्य बतराय, ताहि को सनहर ली जै॥ कह गिरिधर किराय, खटक जैहै नहिं ताकी। कोटि दिलासा देख, लई धन धरती जाकी ॥८॥

साई' अपने भात को, कबहुं न दीजे वास।
पत्तक दूर निहं की जिये, सदा राखिये पास्।
सदा राखिये पास, नास कबहुं निहं दीजे।
नास दियों लंकेश, तास की गति सनि लीजे॥
कह गिरिधर कविराय, राम सों मिलियो आई।
पाय विभीषण राज, लंकपति बाज्यो साई'॥८॥

साई बेटा बाप के, बिगर भयो अंकाज।
हिर्माकुश अरु कंस को, गयों दुहुन को राज॥
गयो दुहुन को राज, बाप बेटा के बिगरे।
दुसमन दावादार, भये महिमण्डल सिगरे॥
कह गिरिधर कविराय, उन्हें काइ न बताई।
पिता पुत्रकी रारि, लाभ एकी नहिं साई ॥१०॥

साई नदी समुद्र को, मिली बड़पनो जानि। जातिनाश भयो मिलतही, मान महत की हानि,॥ मान महत की हानि, कही अब कैसे कीजै। जल खारी है गयो, ताहि अब कैसे पीजै॥ कह गिरिधर कविराय, कच्छमच्छन सकुचाई। बड़ी फजीहतचार, भयो नदियन को साई ॥११॥

साई सन अक दुष्ट जन, इनको यही सुभाव। खाल खिंचावें आपनी, परवन्धन के दाव॥ परवन्धन के दाव, खाल अपनी खिंचवावें। सुग्ड काटि के कुटिय, तक पर बाज न आवें॥ कह गिरिधर कविराय, जरे अपनी कुटिलाई। जल में गिरि सड गये, तक छोंड़ी न खुटाई॥१२॥

साई समय न चूिकिये, यथाश्रित्त सनुमान । को जाने को श्राइहै, तेरी पीरि प्रमान ॥ तेरी पीरि प्रमान, समय श्रसमय तिक श्रावे । ताको तू मत खोल, श्रंक भरि कर्ग्ड लगावे ॥ कह गिरिधर कविराय, सबै यामें सिधशाई । शीतल जल फल फूल, समय जिन चूको साई ॥१३॥

साई' हिर ऐसी करी, बिल के हार जाय।
पहिले हाथ पसारिके, बहुरि पसारे पाय॥
बहुरि पसारे पाय, मनो राजा न बतायो।
भूमि सबै हिर जई, बाधि पाताल पठायो॥
कह गिरिधर कविराय, राव राजन के ताई'।
छल बल करि परभूमि, लेत को हमो माई'॥१४॥

साई अगर उजार में, जरत महा पिछताय। गुनगाहक कोज नहीं, जाहि सुबास सुहाय॥ जाहि सुबास सुहाय, सुने बनमें कोड नाहीं। कै गीदड़ के हिरन, सुतो ककु जानत नाहीं॥ कह गिरिधर कविराय, बड़ी दुख यहै गुसाई'। अगर त्राक की राख, भई मिलि एकै साई'॥१५॥

साई हंस न आवहीं, बिन जल सरवर पास।
निरफल तरवर ते डरें, पत्ती पिथक डदास॥
पत्ती पिथक डदास, छांह विश्वाम न पावें।
जहं न प्रफुल्लित कमल, भ्रमर तहं भूलि न आवें॥
कह गिरिधर कविराय, जहां यह बूभ बड़ाई।
तहां न करिये सांभ, प्रातही चलिये ह

साई एकै गिरि धरे, गिरिधर गिरिधर होय।
हनूमान बहु गिरि धरे, गिरिधर कहै न कोय॥
गिरिधर कहै न कोय, हनू धवलागिरि लायो।
ताको किनका ट्टि, पखो सो कृष्ण उठायो॥
कह गिरिधर कविराय, बहन की बही बहाई।
धोरेही जस होय, जसी पुरुषन को साई ॥१०॥

भोंरा ये दिन कठिन हैं, दुख सुख सही ग्ररीर । जब लग फूले केतकी, तब लगि बिरम करीर ॥ तब लगि बिरम करीर, हर्ष मन में नहिं कीजै। जैसी बहै बयार, पीठ तब तैसी दीजै ॥ कह गिरिधर कविराय, होय जिन जिन में बीरा ॥ सहै दु:ख अक सुख, एक सज्जन अक भौंरा ॥१८॥

पानी बाढ़ग्रो नाव में, घर में बाढ़ग्रो दाम। दोज हाथ उलीचिये, यही सयानी काम॥ यही सयानो काम, नाम ईम्बर को लीनै।
पर खारण के काज, सीस आगे धरि दीजै॥
कह गिरिधर कविराय, बढ़ेन की याही बानी।
चिलिये चाल सुचाल, राखिये अपनो पानी॥१८॥

गुन के गाइक सहस नर, बिनु गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय॥
शब्द सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन।
दोज को इक रंग, काग सब भये अपावन॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मन के।
बिनु गुन लहै न कोय, सहस नर गाइक गुन के॥२०॥

दौलत पाय न कौजिए, सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि को, ठांड न रहत निदान॥
ठांड न रहत निदान, जियत जग में जस लीजै।
मीठे वचन सुनाय, विनय सबही की कीजै॥
कह गिरिधर कविराय, और यह सब घट तीलत।
पाहुन निसि दिन चारि, रहत सबही की दौलत॥२१॥

साई' ऐसे पुत्र से, बांभा रहे वर्त नारि।
बिगरी वेटे बाप से, जाय रहे ससुरारि॥
जाय रहे ससुरारि, नारि की नाम बिकाने।
कुल की धर्म नसायं, श्रीर परिवार नसाने॥
कह गिरिधर कविराय, मातु भांखे वहि ठाई'।
श्रस पुत्रनि नहिं होयं, बांभा रहतिलं वर्त साई'॥२२॥

साई या संसार में, मतलब को व्योहार।
जब लिंग पैसा गांठि में, तब लिंग ताको यार॥
तब लिंग ताको यार, यार संगही संग डोले।
पैसा रहा न पास, यार मुख से निहं बोले॥
कह गिरिधर किंवराय, जगत यह लेखा भाई।
कारत वेगरजी प्रीति, यार बिरला कोइ साई ॥२३॥
साई अवसर के पड़े, को न सहै दुख दन्द।
जाय बिकान डोम घर, वै राजा हरिचन्द॥
वै राजा हरिचन्द, करे मरघट रखवारी।
धरे तपस्ती वेष, फिरे अर्जुन बलधारी॥
कह गिरिधर किंवराय, तपै वह भीम रसोई।
को न करे घटि काम, परे अवसर के साई ॥२४॥

सयंक-महिमा

[प॰ यटरीनारायण चौघरी 'प्रेमधन' (संवत् १८१२-१८८० वि०)—य भारतेन्दुनीक सखा थे। संस्तत, हिन्दी और फारसीके अच्छे पिछत थे। ये रिसक कि थे। इनकी प्रतिभापूर्ण उच्च कोटिकी किवल-शिक्त सभी स्वीकार करते हैं। 'किव-वचन-स्था', 'आनन्द-कादिनिनी' तथा 'नागरी-नीरद'में इनकी किवताएं प्रकाशित होती थी। सन् १८१२में हिन्दी-साहित्य-समोजनका अधिवेशन कलकत्तामें हुआ था और ये उसके सभापति हुए थे।]

चतुर चकोर चार लोचन कर अचल देखता चाह भरे। उसे उच्चतर प्रेम दिखाता भाता धीरज घीर घरे॥ निज प्रिय-मुख-मंडल-सुमाधुरी मंजु श्रमृत-रस पौता है। श्रीरों पर श्रांखें न उठाता देख उसी को जीता है। श्रतिशय श्रनुपम प्रेम-पात्र भी पाया है उसने ऐसा। इस विरंचि-रचना विशाल में श्रीर नहीं कोई जैसा॥ वाइ-वाइ क्या ग्रोभा है जो कही न कह भी है जाती। च्यों-च्यों उसे देखिए, त्यों-त्यों नई छटा है छहराती॥ मेचक चिक्रर-पुञ्ज रजनी के मध्य मंजु मन भाता है। रमा-रुचिर विधु-वदन चांदनी मिस मानीं मुसकाता है। जिसका चार चकोर चक्रधर चिकत लालची लोचन से-निहारता, हारता सदा मन रहता है भोरीपन से॥ अथवा, गगन-सरोवर, नील-सलिल-पूरित पर फूला है। सित सहस्रदल अमल कमल बनकर मन मधुकर भूला है॥ जिसकी केसर सरस कीसुदी जग कमनीय बनाती है। ग्रम सुगंध-सिमालित सुधा मकारंद-बिन्दु बरसाती है॥ या यह अस्वर-उद्धि बीच उतराया, क्या मन भाया है। उज्ज्वल उपल महान खंड मंडलाकार क्वि-क्वाया है॥ तिमिर मत्त मातंग मार या सिंह उसी पर बैठा है। मरीचिमाली सटा छटा छहराता गर्वित ऐंठा है। श्रयवा क्या श्राकाश-माठ में मिथत हुआ उतराया है। मञ्जूल मक्लन-पिंड खच्छ सबके मनको ललचाया है॥ प्रक्ति-देवि-छबि-दर्भव दर्पण गोल श्रलीकिक भारी है। या यह पूरित प्रभा दिखाता भाता जगती सारी है॥ रमनारस्य व्योम-उद्यान बीच या विकसित भाया है। सुन्दर सूर्यसुखी कमनीय क़ुसुम क्या यह रंग लाया है॥

श्रथवा श्रादि श्रखण्ड पिण्ड ब्रह्मांड मनोहर दिखलाता। प्राप्ति भी है जगदीश श्राज निज माया-महिमा प्रग्टाता॥ या यह थाल रजत मन्मथ महीप का जिला कराया है। स्म श्रुहार-सार जिसमें भर जग को सरस बनाया है॥ या कलधीत कलश पूरित पीयूष धरा सा भाता है। या भारत हृदयेश सुयश सम्पुट-नभ पहुंच सुहाता है॥ श्रथवा किसी देव-शिश्च ने क्या गोली गुड़ी उड़ाई है। प्रभामयी जगदीठ खींचकर जिसने पास बुलाई है॥

रंक-रोदन

[पं॰ नायूराम शक्तर शक्तां (संवत् १८१६-१८८० वि॰)—ये हरदुश्रा गंज जिला श्रलीगढ के रहनेवाले गौड ब्राह्मण थे। हिन्दीके श्रच्छे किवयोमे दनकी गणना है। दनकी किवताए खडीबोली के प्रेमियोके लिये बडे श्रादरकी वस्तु हैं। समस्यापूर्तिमें ये दूँबडे सिडहस्त थे। ये डमें भी किवता करते थे।

> क्या शंकर प्रतिकूल काल का श्रंत न होगा ? क्या मंगल से मेल सत्युपर्यन्त न होगा ? क्या श्रनभूत दरिद्र-दु:ख श्रव दूर न होगा ? क्या दाहक दुर्दैव-कोप कपूर न होगा ?॥१॥

होकर मालामाल पिता ने नाम किया था। मैंने उनके साथ न घर का काम किया था॥ विद्या का भरपूर अटल अभ्यास किया था। पर औरों की भांति न कुछ भी पास किया था॥२॥ खद्यम की दिनरात कमान चढ़ी रहती थी। यश के शिर पंर वर्ण-उपाधि मढ़ी रहती थी॥ दान-मान की ज्योति अखंड जगी रहती थी। भिखमंगों की भीड़ सदैव लगी रहती थी॥३॥

जीवन का फल पूज्य पिता जी पाय चुकी थे। कर पूरे सब काम कुलीन कहाय चुकी थे॥ सुन्दर स्वर्ग समान विलास विसार चुके थे। हम सब जनका श्रंत श्रनंत निहार चुके थे॥॥॥

बांध बाप की पाग बना मुखिया घर का मैं। केवल परमाधार रहा जुनवे भर का मैं॥ सुख से पहिली भांति निरंजुश रहता था मैं। क्या करता है कीन, न जु छभी कहता था मैं॥॥॥

जिनका संचित कोश खिलाया-खाया मैंने।

करके जनकी होड़ न द्रव्य क्माया मैंने॥

कर रहे थे लोग, न छल पहचाना मैंने।

घाटे का परिणाम कठोर न जाना मैंने॥
॥

बिगड़े चाकर चोर पुरानी बान बिगाडी।
दिया दिवाला काढ़, बनी दूकान बिगाड़ी॥
श्राभ्रे दाम चुकाय बड़ों की बात बिगाडी।
मुभ से कियां बिगाड़, न श्रपनी घात बिगाड़ी॥॥॥

श्राटके डिगरीदार, किसी ने दाम न छोड़े। छीन लिये धन-धाम-ग्राम, श्राराम न छोड़े॥ हाय! किसी के पास विभूषण-वस्त्र न छोड़े। नाम रहा निरुपाधि, पुलिस ने शख न छोड़े॥८॥

न्यायालय में जाय दिरद्र कहाय चुका हं।
सब द्रेकर 'इनसालवेंट' पद पाय चुका हं।
श्रपने घर की श्राप विभूति उड़ाय चुका हं।
सर्वनाश से हाय न पिंड छुड़ाय चुका हं।।

बैठ रहे मुख मोड़ पुराने श्रानेवाले। लेते नहीं प्रणाम लूट कर खानेवाले॥ देते हैं दुर्वाद बड़ाई करनेवाले। लड़ते हैं बिन बात श्रड़ों पर मरनेवाले॥१०॥

किता-प्रेमी लोग न अब 'सत्किव' कहते हैं। हा! न-विज्ञ विज्ञान-गगन का रिव कहते हैं॥ धर्मध्रंधर धीर नहीं गुरुजन कहते हैं। सुभा को सब कङ्गाल-धनी निर्धन कहते हैं॥११॥

वित्त बिना विख्यात विरद विपरीत हुआ है।

सन मेरा निक्शं क महा भयभीत हुआ है।

कंगाली की सार पड़ी, रस भड़ हुआ है।

जीवन का सग हाय विधाता! तड़ हुआ है।।

प्रतिभा को प्रतिवाद प्रचंड लताड चुका है।
श्रादर को श्रपमान पिशाच पक्षाड़ चुका है।
पीरुष का शिर नीच निरुद्धम फोड़ चुका है।
हाय! हुई का रक्ष विषाद निचोड़ चुका है॥१३॥

दरसे देश उदास, जाति अनुकूल नहीं है। | श्रुत करें उपहास, सित्र सुखमूल नहीं है। श्रुटे नातेदार, किसी से मेल नहीं है। घर में हाहाकार खुशी का खेल नहीं है।

मङ्गल को रिप्त घोर अमङ्गल घेर रहा है। ज्ञास-त्रास के बीज विनाश बखेर रहा है॥ दीन मलीन कुटंब कर्म को कोस रहा है। मेरा कुए अदस्य दिद्र मसोस रहा है॥१५॥

दुखड़ों की भरमार, यहां सुखसाज नहीं है। किसका गोरस-भात, पिसान अनाज नहीं है। चिथडा भी भरपूर किसी के पास नहीं है। कुनवे भर में कीन अधीर उदास नहीं है।

बालक चोख़े खान-पान पर ऋड़ जाते हैं। खेल-खिलीने देख पिछाड़ी पड़ जाते हैं। पर मनमानी वस्तु बिना बस रह जाते हैं। हाय। हमारे काढ कलेजे सो जाते हैं॥१०॥ ८ सिर से संकट-भार जतार न लेगा कोई।
सुभाको एक छदाम उधार न देगा कोई॥
करुणा कर कुलवीर छपा न करेगा कोई।
इस दीनों का पेट न हाय भरेगा कोई॥१८॥

प्राच-प्राचन पूर्व पानी पान खानेवाले।

नाना व्यंजन पान प्रसादी पानेवाले॥

दूध रसाला श्रादि सुधारस पीनेवाले।

हाय! बने हम शान-चनों पर जीनेवाले॥१८॥

घर में क़ुरते कोट सलूके सिल जाते हैं। बाहर से दो-चार टके बस मिल जाते हैं॥ जो क़ुछ पैसे हाथ हमारे श्रा जाते हैं। ंडन सब का सामान मंगाकर ख़ा जाते हैं॥२०॥

लड़के लकड़ी बीन-बीनकर ला देते हैं। ई'धन भर का काम अवश्य चला देते हैं॥ वृद्ध चचा दो-तीन बार जल भर देते हैं। मांग-मांगकर छाछ महेरी कर देते हैं॥२१॥

क्रप्पर में बिन बांस घुने ऐरंड पड़े हैं। बरतन का क्या कास, घने घटखंड पड़े हैं॥ — खाट कहां, कै-सात फटे-से टाट पड़े हैं। चक्की पीसे कीन, बिना भिड़ पाट पड़े हैं॥२२॥ जाड़े का प्रतियोग, न उषा-विलास मिलेगा।
गरमी का प्रतिकार न शीतल वास मिलेगा॥
धेर रही बरसात, न स्खा ठीर मिलेगा।
इस खंडहर को छोड़ कहां घर श्रीर मिलेगा॥२३॥

कर-कर केहरि-नाद बलाइक बरस रहे है। श्रस्थिर विद्युदृष्ट्य दसीं दिस दरस रहे हैं॥ गंदला पानी छेद छत्त के छोड़ रहे है। इन्द्रदेवजी टांग त्राण की तोड़ रहे हैं॥२४॥

दिया जले किस भांति, तेल को दाम नहीं है। काटें मच्छर डांस, कहीं श्राराम नहीं है॥ टट पड़े दीवार, यहां संदेह नहीं है। करदे पनियादार, नहीं तो मेह नहीं है॥२५॥

बीत गई श्रव रात, श्रंधेरा ट्रूर हुआ है।
संकट का कुल हाय न चकनाचूर हुआ है।
श्राज तीसरा रुद्रूप उपवास हुआ है।
हा! हम सब का घोर नरक में वास हुआ है॥२६॥

हिन्दूपन के पंथ-मतों में मेल नहीं है।
सत्य सनातनधर्म कपट का खेल नहीं है।
पिष्टों का सत्कार कहीं श्रविषट नहीं है।
धोखा देकर माल उठाना इष्ट नहीं है।

वैदिक दल में दान-मान कुछ भी न मिलेगा।
प्रतिदिन तीन छटांक हवन को घी न मिलेगा॥
कर्महीनता देख पुख्य-परिषद न मिलेगा।
रोटी-दाल समेत 'महाश्य' पद न मिलेगा॥२८॥

सामाजिक बल पाय फूल-सा खिल सकता हैं। योग-समाधि लगाय ब्रह्म से मिल सकता हैं॥ धर्म धार संसार-सिंधु से तर सकता हैं। हा! पर वस्नाहार बिना क्या कर सकता हैं॥२८॥

जो जगती पर बीज पाप के बो न सकेगा। जिसका साइस सत्य धर्म को खो न सकेगा॥ जो विधि के विपरीत कभी कुछ कर न सकेगा। रो-रोकर वह रंक कहां तक मर न सकेगा॥३०॥

ृजगत सचाई सार

[पं• श्रीधर पाठक (संवत् १८१६-१८८६ वि०)—ये सस्तत, हिन्दी, फारसी, उर्दू श्रीर श्रंगरेजी भाषाके विद्वान् थे। ये व्रजभाषा तथा खडी बीखी दोनोमें किवता लिखनेमें बडे निपुण थे, श्रीर आधुनिक समयके श्रेष्ठ किव माने जाते थे।]

कहो न प्यारे सुभसे ऐसा—"भूठा है यह सब संसार। घोषा भगड़ा, जी का रगड़ा, केवल दुखका हेतु श्रपार" ॥ माना इमने वस्तु जगतकी नाशवान हैं निस्मन्देह। फिर भी तो छोडा नहिं जाता, पलभर को भी उनसे नेह ॥ लगा हुआ है वस्तु मात्र का एक दूसरे से संखन्ध। दूषित क्योंकर हो सक्ता है उस कर्ता का अटल प्रबन्ध ? जगत है सचा, तनक न कचा, समस्तो बचा इस्का भेद। यौत्रो खात्रो, सब सुख पात्रो, कभी न लात्रो मनमें खेद ॥ "मिट्टी उढ़ीना, मिट्टी विक्षीना" मिट्टी दाना पानी है। मिटी ही तन बदन हमारा, सो सब ठीक कहानी है॥ पर जो उलटा समभने इस्को, बने श्रापही ज्ञानी है। मिट्टी करता है जीवन को, श्रीर बडा श्रज्ञानी है॥ मिट्टी क्या है सोचो तो टुक अकृल लडाके प्यारे मिन। पञ्च महाभूतों में धसके, देखो इसकी बात विचित्र ॥ परम पवित्र पावनी पृथ्वी, भरी सकल सुघराई से। पद पद पर शोभा से छाई, ईखर की चतुराई से ॥ श्रित श्रमोल रहों की जननी, सब द्रव्यों की माता है। सदा सुधा रस भरी, खरी, यह सब प्रकार सुखदाता है॥ सव जीवों की भौतिक काया इस्से पोषण पाती है। जीव से नाता छुट जाने पर इसी में वह मिल जाती है॥ तुम से, पृष्वी से, मिट्टी से, है वस इतना ही सम्बन्ध। काम तुम्हारे त्राती है वह, सुन्दर यह प्राक्तिक निबन्ध॥ समभ के सारे जगत को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है। मिट्टी करके सर्वस अपना, मिट्टी में मिल जाता है। कभी नहीं ऐसा सूरख नर सार सृष्टि का पाता है। जैसा ही त्राया था जगमें वैसा ही वह जाता है॥

इस शरीर से जो मनुष्य निहं क्षक भी लाभ उठाता है। उसी तो वह पशु भला जो काम सैकडीं जाता है। उस्का जना व्यर्थ है जो नर पौरुष क्षक न दिखाता है। न इसलोक, ना उसी लोक में हाथ उसे क्रक श्राता है॥ ऐसा कायर तो पृथ्वी को वृथा भार पहुंचाता है। श्रपना जीना ही जिस्की एक वडा बीभा ही जाता है॥ जो तन मन से करता है अम, उचित रीति से चलता है। सारी वसुधा का क्रम क्रम से, सर्वस उस्को मिलता है॥ हाथ, पैर और नाक, कान, बुद्धि से काम जो लेता है। जीवन का सुख पाता है वह, श्रीरों को सुख देता है। पुत, कलन, मित्र, बान्धव में फैला कर सचा ग्रानन्द। काम जगत का करता है वह, रहता है सुख से खच्छन्द ॥ दुख कब ऐसे पुरुष सिंह के पास फटकने पाता है। वह तो आलस का साथी है, आलिसयों पर जाता है॥ जब तक तुम इस जग में सची धर्मरीति पर चलते हो। तब तक निस्मन्देह निरन्तर सब बातों में फलते हो॥ सारा सांसारिक सुख पाकर ईम्बर को पहिचानी हो। उस्की विद्यमानता, सत्ता, वस्तु मात में जानी ही॥ रचा उसीका है जब यह जग निश्चय उसको प्यारा है। इसमें दोष लगाना अपने लिये दोष का दारा है। ध्यान लगा के जो देखो तुम सृष्टी-की सुधराई को। बात बात में पाश्रोगे उस ईखर की चतुराई को॥ ये सब भांति भांति के पची ये सब रंग रंग के फूल। ये बनकी लहलही लता नव ललित ललित शोभा की मूल ॥ ये नदियां ये भील सरोवर, कमलां पर भौरों की गुन्त । वडे सरीले बोलों से अनमोल घनी बच्चों को क्रुन्न ॥ ये पर्वत की रम्यशिखा और शोभा सहित चढाव उतार। निर्मल जल के सोते भरने, सीमारहित महा विस्तार॥ छै प्रकार की ऋतु का होना नित नवीन शोभा के संग। पाकर काल बनस्पति फलना, रूप बदलना रंग विरंग ॥ चांद सूर्य की शोभा अड़ुत, बारी से आना दिन रात। त्यों अनन्त तारा मण्डल से सज जाना रजनी का गात ॥ यह ससुद्र का पृथ्वी तल पर छाया जो जलमय विस्तार। उसमें से मेघों के मंडल हों अनन्त उत्पन्न अपार ॥ तर्जन गर्जन घन मण्डल की विजली वर्षा का सञ्चार। जिस्में दीखे परमेश्वर की लीला अज्ञत अपरम्पार॥ उस कारीगर ने कैसा यह सुन्दर चित्र बनाया है। कहीं पे जलमय कहीं रेतमय, "कहीं ध्रप कहीं छाया है" ॥ विविध रूप का अनोखा अचरज जिस्के बीच समाया है। कोई कहता "कृ दरत" जिसको कोई कहता "माया" है॥ पांच बजे तड़की उठते जिस दम दम न्हाते धोते हैं। श्राधी रात होने से उस दम लग्डन वाले सोते हैं॥ यहां जिन दिनों गर्मी से सब के घर पंखे चलते है। श्रास्टे खा वालों के घरमें गरम कोयले जलते हैं॥ इस प्रकार के दृश्य अनेकों दृष्टि नित्य जब आते हैं। अचरज युक्त अनुपम अनुभव वे मन में उपजाते हैं॥ इन सब के कारण से होता नहीं है किस्के मन को सुख। भला किसी को बताइये तो पहुंचा है इनसे कुछ दुख ?

सब स्वभाव के मनुष्य जिन्को सदा प्रशंसा गाते हैं॥ जोगी, जती, विरत्ता, उदासी भी उत्तम बतलाते हैं॥ जो नेवों से दिखाई देता, कानों से सुन पड़ता हैं। जिस्को चित्त ग्रहण करता है जिस्से कुछ न विगड़ता है॥ सत् पुरुषों ने जिस्को बारस्वार पुकारा अच्छा है। जो वो ही निहं सचा है तो भला और क्या सचा है ?॥ जिस्का यह सब रचा हुआ है, वह परमेखर सचा है। जगत के सचे होने का मते क्यों करके तब कचा है ? ॥ जो सचा है, वह प्यारा है, वही सकल सुख का भंडार। वही मनुष्यों के जीवन को देता है जानन्द अपार ॥ जगत को भाठा भाठा कहके करो नहीं उस्का अपमान। बुं बि को अपने काम में लाओ, हे मनुष्य हे बुं बिनिधान ॥ जिस्की तुम जानी यह दुख है सही उसे धीरज के साथ। दुख में सुख का अनुभव करना, है मनुष्य को अपने हाय॥ दुख तो मनुष्य के जीवन की एक कसीटी है मानो। इसमें जैसा रहे रंग, वैसा ही भाव उस्का जानी॥ काम क्रोध और लोभ मोह भी जीवनके सहयोगी हैं। द्रन्के वश में जो पड़ता है उसी के ये प्रतियोगी हैं॥ द्रन्को जो अपने मन से जड़ मूल मिटाना चाहै हैं। वे श्रसमध कभी न जगत का सत उद्देश्य निवाहै हैं॥ जैसा यह जग बना हुन्ना है वैसा इस्को पहचानो। र्दुम्बर की व्यापकता दसों सभी ठीर प्यारे जानो॥ देख देख उसकी महिमा, गुण निश्चि वासर उस्के गाम्रो। अर्थ धर्म और काम मोच पाने में पौरुष दिखलाओ ॥

रूप जगत का यथार्थ देखो, पड़ो मूल में कभी न तुम। जीवन की कर्तव्य नि बाहो, समक्त की उसके ग्रंड नियम॥ चलोगे सच्चे मनसे जो तुम निर्मल नियमों की श्रनुसार। तो श्रवश्य प्यारे जानोगे सारा जगत मचाई सार॥

प्रिय प्रवास

[पं॰ अयोध्या सिंह उपाळाय 'हरिश्रीध' (स्वत् १८२२—वर्तमान)—इनका हिन्दीने प्रति
अगाध प्रेम है। सस्तत, वगला श्रीर फारसीमें भी ये अच्छी योग्यता रखते हैं।
इन्होंने जीवनभर हिन्दीकी जो सेवा की है वह सराहनीय है। इन्होंने खडी
वीली श्रीर व्रजभाषा दोनोमें कविताएं लिखी है श्रीर दोनोपर इनका समान
हपसे श्रधिकार है। ये जैसे प्रवीण गदालेखक हैं दैसे ही सुकवि भी। अञ्चल ये अवैतनिकहपसे हिन्दू-विश्वविद्यालयमें हिन्दी-श्रध्यापक है। कवितामें
इनका स्थनाम 'हरिश्रीध' है।

प्रथम सर्ग

दिवस का अवसान समीप था।

गगन था कुछ लोहित हो चला।

तरु-शिखा पर थी अब राजती।

कमिलनी कुल-बन्नम की प्रमा ॥१॥

विपिन बीच बिहंगस-छन्द का।

कल-निनाद समुखित या हुआ।
ध्विनमयी-बिविधा-बिह्नगावली।
उड रही नभ-मण्डल मध्य थी॥२॥
15—1584 B T

श्रिवत श्रीर हुई नभ-लालिमा।
दश-दिशा श्रनुरंजित हो गई।
सकल-पादप-पुंज हरीतिमा।
श्रक्षिमा विनिम्ञित सी हुई॥३॥

भारत मित-केलि-यली लगी।

गगन के तलकी यह लालिमा।

सरित श्री सर के जल में पड़ी।

श्रमणता श्रितही रमणीय थी॥॥॥

श्रचल-शृ'ग-समुद्रत जा चढ़ी।

किरण पादप-श्रीश बिद्यारिणी।

तरिण-बिम्ब तिरोहित हो चला।

गगन पश्चिम मध्य श्रनै: श्रनै: ॥॥

ध्वनि-मयी कर के गिरि-कन्दरा।
कालित-कानन कुंज निकुंज़ को।
काणित एक इन्ना बर-बेणु भी।
रिवसुता कल-कूल इसी समै॥६॥

बज उठे सु-विषाण अनेकशः।
रिणत शृंग हुए बहु साथ ही।
फिर समाहित-प्रान्तर-भाग में।
श्रुत हुआ खर धावित-धेनु का ॥०॥ः

नियत नाल हिं में बन-बीधिका।
बिबिध-धेनु बिभूषित हो गई।
धवल-धूसर-बत्स-समूह भी।
समृद था जिन के संग सोहता॥८॥

जब हुई समवेत शनै: शनै:।
सहित गी-गण मण्डलि-ग्वाल की।
तब चली ब्रज-भूषण को लिये।
वह श्रलंकत-गोकुल-ग्राम को॥८॥

गगन के तल गोरज का गई।

दय-दिशा बहु शब्दमयी हुई।

बिशद-गोकुल के प्रति-गेह में।

बहु चला बैर-श्रोत बिनोद का ॥१०॥

दिन-समस्त समाञ्जल से रहे।
सक्त-मानव गोञ्जल-ग्राम के।
श्रव दिनान्त विलोकत ही बढ़ी।
ब्रज-विभूषण दर्शन-लालसा॥११॥

श्वत हुआ खर ज्यों कल-बेण का।
सकल-ग्राम समुत्सुक हो उठा।
हृदय-यंत्र निनादित हो गया।
तुरत ही अनियंत्रित भाव से ॥१२॥

वय-वती युवती वहु-वालिका।
सक्तल-वालक वृष्ड वयस्क भी।
विवय से निकले निज रोह से।
स्वदृग का दुख मोचन के लिये॥१३॥

द्धर गोक्कल से जनता कड़ी।
जनतो ऋति आनंद में पगी।
जधर आ पहुंची वल बीर की।
विप्रल-धेनु-विसंडित-सण्डली॥१४॥

विक्रम-श्रोमित गोरज वीच से।
निकलते व्रज-वज्ञम यों लसे।
वादन ज्यों कर के दिश्रि-कालिमा।
कमलिनी-पर्ति है नम राजता ॥१५॥

श्रतिस-पुष्प श्रलंक्षतकारिणी।
सुद्धिव नील-सरोरुष्ठ वर्षिनी।
नवल-सुन्दर-श्याम-श्ररीर की।
सजल-नीरद सी कल-कान्ति थी॥१६॥

श्रति-समुत्तम श्रंग-समूह था।

सुकुर-मंजुल श्री मनभावना।

सतत थी जिस में सुकुमारता।

सरसता प्रतिविस्त्रित हो रही ॥१७॥

विलसता किट में पट-पीत था।

वसन-सुन्दर था तन सोहता।

उर लसी वनमाल-विचित्र थी।

कलित-कंध मनोज्ञ-दुकूल था॥१८॥

मकर-केतन के कल-केतु से।

विलसते बर-कुराइल कान थे।

विर रही जिन के सब श्रोर थी।

विविध-भावमयी श्रसकावली ॥१८॥

मुक्कट मस्तक था सिखि-पुच्छ का।
श्रिति-मनोहर मण्डित-माधुरी।
श्रिसित-रत्न समान सुरंजिता।
सतत थी जिस की बर-चन्द्रिका॥२०॥

विश्रद-उच्चल-उन्नत-भाल में।
विलसती कल केसर खीर थी।
श्रसित-पंकल के दल च्यों लसे।
रज-सुरंजित पीत-सरोज की ॥२१॥

मधुरिमा-मय या सदु-बोलना।
ग्रधर यो सुसुकानि सुधा भरी।
समद यो जन-मानस मोहती।
कमल-लोचन की कमनीयता॥२२॥

सबलं-जानु-बिलंबित-बाहु थी।
ग्रिति-सुपुष्ट-समुन्नत-वन्न था।
वय-किशोर-कला तन थी लसी।
सुख प्रफुक्तित-पद्म समान था॥२३॥

सरस-राग-समूह सहैिलका।
सहचरी सब मोहन-मंत्र की।
रिसकता-जननी कल-नादिनी।
सुरिलका कर थी मधुवर्षिणी॥२४॥

क्लकती मुख थी क्रबि-पुंजता। क्रिटिकती क्रिति थी तन की क्रटा। बगरती बर दीप्ति दिगन्त थी। क्रितिज ज्यों क्रनदा-कर की कला॥२५॥

सुदित गोक्कल की जन-मण्डली।
जब ब्रजाधिप सन्मुख जा पड़ी।
निरखने सुख की छवि यों लगी।
हिषित-चातक ज्यों घन की घटा ॥२६॥

पलक लोचन थी पड़ती नहीं।
हिल नहीं सकता तन-लोम था।
गिरुत-पाइन-पुत्तिका यथा॥२०॥

खहलते शिशु थे अति हुई से।
युवक थे रस की निधि लूटते।
जरठ को फल लोचन का मिला।
निरख के सखमा सख मूल की ॥२८॥

बहु-बिनोदित थीं ब्रज-बालिका।
तरुणियां सब थीं त्यण तोड़तीं।
बिल गई बहु बार बयोवती।
लख अनुपमता ब्रज-चन्द की ॥२८॥

मुरिलका कर-कंज बिराजती।
जब अचानक थी बजती कभी।
तब अन्प-पियूष-प्रवाह में।जन-समागम था अवगाहता॥३०॥

हिंग सुशोभित श्री बलराम थे।
निकट गोप-कुमार समूह था।
बिबिध रंगवती-गरिमामयी।
सुरिभ थीं सब श्रोर बिराजतीं॥३१॥

वज रहे बहु-शृंग-बिषाण थे।
क्षित हो उठता बर-वेण था।
सरस-राग-समूह श्रलाप से।
रसवती-श्रति थी सुदिता-दिशा॥३२॥

विविध-भाव विसुग्ध बनी हुई।
सुदित थी बहु दर्शक-मण्डली।
तन-विभूषण काचित-कामिनी।
अति मनोहर था बजता कभी॥३३॥

इधर था इस भांति समा बंधा।
उधर व्योम हुआ कुछ औरही।
अब न था उस में रवि राजता।
किरण भी न सुशोभित थी कहीं॥३४॥

श्रक्णिमा जगती-तल-रंजिनी।
बहन थी करती श्रव कालिमा।
मिलन थी नव-राग-मयी-दिशा।
श्रवनि थी तमसावृत हो रही ॥३५॥

तिमिर की यह भूतल व्यापिनी।
तरल-धार विकाश-विरोधिनी।
जन-समूह-बिलोचन के लिये।
बन गई प्रति-मूर्त्ति बिराम की ॥३६॥

दुतिमती उतनी अब थी नहीं।
नयन की अति-दिव्य कानीनिका।
अब नहीं वह थी अवलोकती।
मधुर मूरति श्री घनध्याम की ॥३०॥

यह श्रभावुकता तम-पुंज की।

सह सकी निहं तारक-मण्डली।
वह विकास विवर्षन के लिये।

निकलने नभ-मण्डल में लगी॥३८॥

तदिप दर्भन-लोचन-लालसा।
प्राचनती न हुई तिल मात्र भी।
नयन की लख के यह दीनता।
सञ्जचने सरसीरुह भी लगे॥: ८॥

खग-समूह न थे अब बोलते।
बिटप थे सब नीरव हो गये।
मधुर मंजुल मत्त अलाप के।
अब न यंत्र बने तक्-ब्रन्ट थे॥४०॥

विह्नग श्री विटपी-कुल मीनता।
प्रगट थी करती इस मर्मा को।
अवण को वह नीरव थे बने।
करण-श्रंतिम-बादन वेण्का॥४१॥

विद्यग-नीरवता-उपरान्त ही।
क्त गया स्तर शृंग विषाण का।
कल-श्रलाप समापित हो गया।
पर रही बजती वर-वंशिका ॥४२॥ः

विविध-मर्माभरी कर्णामयी।
ध्विन वियोग-विराग-विवेधिनी।
कियत-काल रही दिशि=व्यापिनी।
फिर प्रभंजन में वह भी मिली ॥४२॥

ब्रज-धरा-जन जीवन-यंत्रिका।
विटिप वेलि विनोदित कारिणी।
मुरिलका जन-मानस-मोहिनी।
श्रहह मिक्कित नीरवता हुई ॥४४॥

प्रथम ही तम की करतूत से।

छिब न लोचन धे अवलोकते।
अब निनाद रुके कल-वेणु के।
अवण पान न था करता सुधा ॥४५॥

दस लिये रसना-जन-मण्डली।
सरस-भाव समुत्सुकता पगी।
प्रथन गौरव से करने लगी।
ब्रज-विभूषण की गुण-मालिका ॥४६॥

जब दशा यह थी जन-द्वन्द की।
जलज-लोचन थे तब जा रहे।
सिहत गोगण गोप-समूह के।
अवनि-गीरव-गोकुल ग्राम में ॥४०॥

· कियत-काल हुई यह भी क्रिया।

फिर हुआ इस का अवसान भी।

प्रथम थी वहु धूम सची जहां।

अव वहां बढ़ता सुनसान था॥४८॥

कर विदूरित लोचन-लालसा।
नव-पिय्ष पिला कर कान को।
गुण-मयी रसना करके गय।
खग्रह को अब दर्शकहन्द भी॥४८॥

प्रथम थी खर की लहरी जहां।
पवन में अति मंजुल गूंजती।
कल अलाप सुल्पावित था जहां।
अब वहां पर नीरवता हुई॥५०॥

विश्रद-चित्रपटी व्रजभूमि की।
रहित श्राज हुई बर चित्र से।
किब यहां पर श्रंकित जो हुई।
श्रहह जोप हुई सब-काल को १५१॥

चांदनी

[लाला भगवानदीन 'दीन' (संवत् १८२३-१८८० वि०)—दीनकी प्राचीन हिन्दी कविताके समैज विद्यान् थे। प्राचीन किथीकी ग्रस्थोपर इनकी टीकाएं तथा समालोचनाएं सर्वमान्य है। इनकी कविता पुस्तके तथा अलंकार ग्रस्थ हिन्दी-साहित्य-भाष्डारके रत्न हैं। ये हिन्दू-विश्वविद्यालयमें हिन्दीके श्रध्यापक थे।

खिल रही है आज कैसी भूमितल पर चांदनी। खोजती फिरती है किसको त्राज घर-घर चांदनी। घन-घटा घृंघट उठा मुसकाई है कुछ ऋतु शरद। मारी-मारी फिरती है इस हेतु दर-दर चांदनी ! रात की तो बात क्या, दिन में भी बनकर कुंद कांस। काई रहती है बराबर भूमितल पर चांदनी॥ सेत सारी-युक्त प्यारी की छटा के सामने। जंचती है ज्यों फूल के आगे हो पीतर चांदनी। खच्छता मेरे हृदय की देख लेगी क्या कभी। सत्य कहता ह्र' कि कंपं जायेगी थर-थर चांदनी ! नाचने लगते हैं मन श्रानन्दियों की मोद से। मानुषी मनको बना देती है बन्दर चांदनी! भाव भरती है अनुठे मन के कवियों में अनेक। इनके हित हो जाती है जोगी मछंदर चांदनी! वह किसी की माधुरी मुसकान की मनहर छटा-'दीन' को सुमिरन करा देती है अक्सर चांदनी।

चमेली

[प॰ मत्रन हिनेदी गजपुरी (सनत् १८४२-१८७८ नि०)—ये नै० ए० परीचा पास करनेके नाद आजमगढमें तहसीलदार हुए थे। कावानस्थासे ही ये पन-पितकाश्रीमें चिख चिखने नो थे और श्रागे चनकर नडे श्रन्धे चिखक हुए। इनकी भाषा नडी सजीन होती थी।]

सुन्दरता की रूपराधि तुम दयालुता की खान चमेली। तुमसी कन्याएं भारत को कब देगा भगवान चमेली। चहक रहे खग-वृन्द वनों में अब न रही है रात चमेखी। श्रमल कमल क्रसमित होते है देखो हुश्रा प्रभात चमेली॥ प्रेस-सग्न प्रेमीजन देखो करें प्रभाती-गान चमेखी। जिसने तुमसा वृत्त लगाया कर माली का ध्यान चमेली॥ जग-याचा में सहने होंगे कभी-कभी दुखभार चमेली। काट-छांट से मत घवराना यह भी उसका प्यार चमेली॥ क्रिन्न-भिन्न डालों का होना अपने ही हित जान चमेली। हरे-हरे पत्ते निकलेंगे सुमनों के सामान चमेली॥ श्वमर-भीर गुन्जार करेगी, तुमसे हास-बिलास चमेली। दिग-दिगन्त सुरिभत होवेगा पाकर सुखद सुवास चमेली॥ ग्रटल नियम को भूल न जाना जग में सबका नाश चमेली। ग्रस्त ग्रंग्रमाली भी होता घूम ग्रखिल ग्राकाश, चमेली॥ नहीं रहेगा मूल न शाखा नहीं मनोहर फूल चमेली। निराकार से मिलकर होना प्रियतम-पद को धूल चमेली॥

जयद्रथ वध

[बार्क मेथिलीशेरण गुप्त (संवत् १८४२-वर्तमान) खडी बोलीके आधुनिक किवयोंमें
गुप्तजीका स्थान बहुत खंचा है। इनकी किविताकी भाषा बहुत ग्रुड और
परिमार्जित होती है। इनकी लिखे मौलिक तथा अनूदित काव्यग्रयोंकी संस्थाः
२० के लगभग है। इनकी किविताओंने भारतीय नवयुवकोंके हृदयमें राष्ट्रीय
भावोंके जागरणका बहुत बडा काम किया है।

प्रथम सग

वाचक! प्रथम सर्वत्र ही 'जय जानकी-जीवन' कही, फिर पूर्वजों के श्रील की शिचा-तरकों में बही। दुख, श्रोक, जब जो श्रा पड़े, सो धेर्य पूर्वक सब सही, होगी सफलता क्यों नहीं कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहो॥ श्रिधकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है; न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दग्ड देना धर्म है। इस तत्व पर ही कीरवीं से पाण्डवीं का रण हुआ, जो भव्य भारतवर्ष के कल्पान्त का कारण हुआ॥ सब लोग हिलमिल कर चलो, पारस्परिक ईर्था तजी, भारत न दुर्दिन देखता मचता महाभारत न जो। हो स्वप्नतुल्य सदैव को सब शीर्य सहसा खो गया, हा हा! इसी समराग्नि में सर्वस्व स्वाहा हो गया। दुर्वत्त दुर्यीधन न जो शठता-सहित इठ ठानता, जो प्रेम-पूर्वक पाण्डवीं की मान्यता को मानता,

तो डूबता भारत न यों रख-रक्त-पारावार में, 'ले डूबता है एक पापी नाव को संभाधार में'। हा। बन्धुत्रों के ही करों से बन्धुगण मारे गये। हा! तात से सुत, शिष्य से गुरु, स-इठ संहारे गये! इच्छा-रहित भी वीर पाण्डव रत हुए रण में अहो! कत्त्रें व्यक्ते वर्श विज्ञ जन क्या क्या नहीं करते कही ? यह श्रति अपूर्व कथा हमारे ध्यान देने योग्य है, जिस विषय से सम्बन्ध हो वह जान लेने योग्य है। श्रतएव क्षक श्राभास इसका है दिया जाता यहां, अनुमान थोड़े से बहुत का है किया जाता यहां॥ रणधीर द्रोणाचार्थ-क्तत दुर्भेय चक्रव्यूह को, शवाब-सज्जित ग्रथित, विस्तृत शूरवीर-समूह को जब एक श्रर्जुनके बिना पारख्व न भेदन कर स्कि तब बहुत ही व्याकुल हुए सब यत कर करवी थेंकें। यों देखकर चिन्तित उन्हें धर ध्यान समरोक्तर्भिक्ती, प्रस्तुत_हुआ अभिमन्यु रण को शूर षोडश वर्ष की ५ वह वीर चक्रव्यूह-भेदन में सहज सज्ञान था, निज जनक अर्जुन-तुल्य हो बलवान या गुणवान या "है तात ! तजिए सोच को, है काम ही क्या क्षेश का 🏞 मैं द्वार उद्घाटित करू'गा व्यूह-बीच प्रवेश का।" यों पार्खवों से कह, समर को वीर वह सज्जित हुआ, क्रवि देख उसकी उस समय सुरराज भी लिज्जित सुत्रा॥ नर-देव-सम्भव वीर वह रण-मध्य जाने के लिए, बोला वचन निज सारथी से रथ सजाने के लिए।

यह विकट साहस देख उसका, सूत विस्मित हो गया; कहने लगा इस भांति फिर वह देख उसका वय नया— "हे शतुनाशन! आपने यह भार गुरुतर है लिया, हैं द्रोण रण-परिष्टत; कठिन है व्यूह-भेदन की क्रिया। रणविज्ञ यद्यपि श्राप हैं, पर, सहज ही सुकुमार हैं, सुखसहित नित पोषित हुए, निजवंश-प्राणाधार हैं॥" सन सार्थी की यह विनय बोला वचन वह वीर यों— करता घनाघन गगन में निर्घीष ऋति गम्भीर ज्यों। ''हे सारथे। हैं द्रोण क्या, देवेन्द्र भी श्राकर श्रहे, है खेल चित्रय बालकों का व्यूह-भेदन कर लड़े। खीराम के हयमेध से अपमान अपना मान के, मख-श्रम्ब जब लव श्रीर कुश ने जय किया रण ठान के। श्रभिमन्य षोडश वर्ष का फिर क्यों लड़े रिप्र से नहीं, क्या श्रार्थ-वीर विपन्त-वैभव देख कर डरते कहीं ? सुन कर गजीं का घोष उसको समभ निज अपयश-कथा, उन पर भपटता सिंह-शिश्व भी रोष कर जब सर्वधा। फिर व्यूइ-भेदन के लिए श्रभिसन्यु उद्यत क्यों न हो, क्या वीर-बालक शत्रु का अभिमान सह सकते कही ? मैं सत्य कहता हं, सखे ! सुकुमार मत मानों मुके, यमराज से भी युड को प्रस्तुत सदा जानीं सुके। है और की तो बात ही क्या, गर्व में करता नहीं, मामा तथा निज तात से भी समर में डरता नहीं। ज्यों जनषोडम वर्ष के राजीवलोचन राम ने, मुनि-मख किया या पूर्ण वध कर राचसीं को सामने।

कर व्यूह्न-भेदन ग्राज त्यों हो वैरियों को मार के, निज तात का मैं हित करूंगा विमल यश विस्तार के ॥" यों कह वचन निज सूत से वह वीर रण में मन दिये, पहुंचा शिविर में उत्तरा से बिदा लेने के लिए। सब हाल उसने निज प्रिया से जब कहा जाकर वहां, कहने लगी तब वह खपित की अति निकट आकर वहां— "मैं यह नहीं कहती कि रिप्नं से जीवितेश लड़ें नहीं, तेजिखियों की आयु भी देखी भला जाती कहीं ? में जानतो ह्र' नाथ। यह, मैं मानती भी ह्र' तथा-उपकरण से क्या, शक्ति में ही सिंदि रहती सर्वथा। चनाशियों के अर्थ भी सबसे बडा गौरव यही--सिक्कत करें पति-प्रव को रण के लिए जो आप ही। जो वीर पति के कीर्त्ति-पथ में विघ्न-बाधा डालतीं-होकर सती भी वह कहां कर्त्तव्य अपना पालतीं ? अपश्कुन ग्राज परन्तु मुभको हो रहे, सच जानिए, मत जाइए मम्प्रति समर में, प्रार्थना यह मानिए। जाने न दूंगी भ्राज मैं प्रियतम तुम्हें संग्राम में, उठती बुरी हैं भावनाएं हाय। इस हृदाम में॥ है ग्राज कैसा दिन न जानें, देव-गए त्रनुकूल हों, रचा करें प्रभु मार्ग में जो शूल हों वे फूल हों। क्क राज-पाट न चाहिए, पाऊं न क्यों मैं वास ही ; हे उत्तरा के धन। रहो तुम उत्तरा के पास ही ॥" कहती हुई यों उत्तरा के नेत्र जल से भर गये, हिम के कर्णों से पूर्ण मानों हो गये पङ्गज नये।

निज प्राण्यति के स्कन्ध पर रख कर वदन वह सुन्दरी, करने लगी फिर प्रार्थना नाना प्रकार व्यथा-भरी। यों देख कर व्याक्तल प्रिया को सान्तना देता हुआ, उसका मनोहर पाणि-पत्तव हाथ में लेता हुआ. करता हुआ वारण उसे दुर्भावना की भीति से, वहने लगा श्रिमन्यु यों प्यारे वचन श्रति प्रीति से— "जीवनमयी, सुखदायिनी, प्राणाधिक, प्राण्प्रिये। कातर तुम्हें क्या चित्त में इस भांति होना चाहिए ? हो शान्त सोचो तो भला, क्या योग्य है तुमको यही, हा! हा! तुम्हारी विकलता जाती नहीं सुभासे सही ॥ वीर-सुषा तुम, वीर-रमणी, वीर-गर्भा हो तथा, श्राखर्य, जो मम रण-गमन से हो तुम्हें फिर भी व्यथा! हो जानती बातें सभी कहना हमारा व्यर्थ है ; बदला न लेना शतु से कैसा अधर्म अनर्थ है ? निज प्रतु का साइस कभी बढ़ने न देना चाहिए, बदला समर में वैरियों से शीव्र लेना चाहिए। पापी जनीं को दग्ड देना चाहिए समुचित सदा, वर वीर चित्रय-वंश का कर्त्तेव्य है यह सर्वदा॥ दन कीरवों ने हा ! हमें सन्ताप कैसे हैं दिये, सब सुन चुकी हो तुम इन्होंने पाप जैसे हैं किये ! फिर भी दुन्हें मारे बिना हम लोग यदि जीते रहें, तो सोच लो संसार भर के वीर इमसे क्या कहें ? जिस पर हृदय का प्रेम होता सत्य और समग्र है, उसके लिए चिन्तित तथा रहता सदा वह व्यय है।

होता इसी से है तुम्हारा चित्त चञ्चल हे प्रिये। यह सोच कर सो अब तुन्हें शिक्षत न होना चाहिये-रण में विजय पाकर प्रिये। मैं शीघ्र आजंगा यहां. चिन्ता करो मन में न तुमको भूल जार्ज गा वहां ! -देखो, भला भगवान ही जब है हमारे पच में, जीवित रहेगा कीन फिर श्राकर हमारे लच में ?" यों धैर्थ देकर उत्तरा को, हो विदा सङ्गाव से; वीराग्रणी अभिमन्यु पहुंचा सैन्य में अति चाव से। खर्गीय साइस देख उसका सीगुने उताह से, भरने लगे सब सैनिकों के हृदय हर्ष-प्रवाह से॥ फिर पार्डवों के मध्य में अति भव्य निज रथ पर चढ़ा। रणभूमि में रिपु-सैन्य-समाख वह सुभद्रा-सुत बढ़ा। पहले समय में च्यों सुरों के मध्य में सज कर भले ; थे तारकासुर मारने गिरिनन्दिनी-नन्दन चले ॥ वाचक ! विचारो तो जरा, इस समय की अद्भुत छटा, कैसी ग्रलीकिक घिर रही है गूरवीरों का घटा। दुर्भेद्य चक्रव्यूह सम्मुख धार्तराष्ट्र रचे खड़े, अभिमन्य उसके भेदने को हो रहे आतुर बड़े॥ तत्काल ही दोनों दलों में घोर रण होने लगा. प्रत्येक पत्त में भूमि पर वर वीर-गण सोने लगा। रोने लगीं मानीं दिशाएं पूर्ण हो रण-घोष से, करने लगे आघात सम्मुख शूर-सैनिक रोष से ॥ इस युद्ध में सीभद्र ने जो की प्रदर्शित वीरता, अनुसान में आती नहीं उसकी अगम गमीरता।

जिस घीरता से शबुश्रों का सामना उसने किया, श्रसमर्थ हो उसके कथन में मीन वाणी ने लिया ॥ करता चुत्रा कर-निकर दुईर सृष्टि के संहार को, कल्पान्त में सन्तप्त करता सूर्थ्य च्यों संसार को। सव श्रोर त्यों ही छोड़ कर निज प्रखरतर शर-जाल को, करने लगा वह वीर व्याकुल शहु-सैन्य विशाल को॥ शर खींच उसने तूण से कव, किंधर सन्धाना उन्हें, वस विद्व होकर ही विपची-हन्द ने जाना उन्हें। कोदण्ड कुण्डल-तुच्य ही उसका वहां देखा गया, अविराम रण करता हुआ वह राम-सम लेखा गया॥ कटने लगे अगणित भटों के रुग्ड-सुग्ड जहां तहां, गिरने लगे कट कर तथा कर-पद सहस्रों के वहां। केवल कलाई ही कुतूहल-वश किसी की काट दी, च्लमात्र में ही अरि-गलों से भूमि उसने पाट दी॥ करता हुआ वध वैरियों का वैर-शोधन के लिए, रण-मध्य वह फिरने लगा ऋति दिव्य खुति धारण किये। उस काल सूत सुमित्र के रय हांकने की रीति से, देखा गया वह एक ही दस-वीस-सा अति भीति से! उस काल जिस जिस श्रोर वह संग्राम करने को गया, भगते चुए अरि-वृन्द से मैदान खाली हो गया। रथ-पथ कहीं भी रुड उसका दृष्टि में श्राया नहीं, समा ख हुआ जो वीर वह मारा गया तत्वण वहीं॥ च्यों भेद जाता भानु का कर श्रन्थकार-समूह को, वह पार्थ-नन्दन घुस गया त्यों भेद चक्रव्यूह को।

थे वीर लाखों पर किसी से गति न उसकी रुक सकी सव प्रवृत्रीं की प्रति उंसके सामने सहसा यकी॥ पर साथ भी उसके न कोई जा सका निज शक्ति से, था द्वार-रच्चक नृप जयद्रथ सबल शिव की भित्त से। त्रर्जुन विना उसको न कोई जीत सकता या कहीं, थे किन्तु उस संग्राम में भवितव्यता-वश वे नहीं॥ तब विदित कंपी-किनष्ठ भाता बाण बरसा कर बड़े, "रे खल । खडा रह" वचन यीं कहने लगा उससे कर्डे। अभिमन्यु ने उनको अवण कर प्रथम कुछ ईस भर दिया, फिर एक शर से शीघ्र उसका शीश खिल्हत कर दिया! यों देख मरते निज अनुज को कर्ण अति चौमित हुआ, सन्तप्त खर्ण-समान उसका वर्ण ऋति शोभित हुआ। सीभद्र पर सी बाण छोडे जो अतीव कराल घे, श्राः। वाण घे वे या भयक्षरे पच्चधारी व्यांत घे॥ अर्जुन-तनय ने देखं उनको वेग से त्राते हुए, खिष्डित किया भट बीच ही में धैर्थ दिखनाते हुए। फिर इस्तलाघव से उसी चण काट के रिपु चाप को, रथ, सूत, रच्चक नष्ट कर सींपा उसे सन्ताप को ॥ यों कर्ण को हारा समभ कर चित्त में अति कुड हो, दुर्यीधनात्मज वीर लच्मण आगया फिर युद्ध को। सम्मुख उसे अवलोक कर अभिमन्यु यों कहने लगा, मानीं भयद्वर सिन्धुनद इद तीड कर् बहने लगा— "तुम हो हमारे बन्धु इससे हम जताते हैं तुन्हें, मत जानियो तुम यह कि इम निर्वे बताते हैं तुम्हें।

श्रव इस समय तुम निज जनों को एक वार निहार लो. यस-धाम में ही श्रन्यथा होगा मिलाप विचार लो॥" उस वीर को, सुन कर वचन ये लग गई बस ग्राग-सी, हो क्रुड उसने शक्ति छोड़ी एक निष्ठर नाग-सी। अभिमन्यु ने उसको विफल कर "पार्डवों की जय" कही, फिर ग्रर चढ़ाया एक जिसमें ज्योति-सी घी जग रही। उस ग्रहचन्द्राकार-शर ने छूट कर कोदण्ड से, क्टेदन किया रिपु-कग्छ तत्त्रण फलक-धार प्रचण्ड से। ृ होता हुआ इस भांति भासित शीश उसका गिर पड़ा ; होता प्रकाशित ट्रंट कर नचत्र ज्यों नम से बड़ा॥ तत्काल हाहाकार-युत रिपु-पत्त से दुख छा गया, फिर दुष्ट दुःशासन समर में शीघ समाख श्रा गया। ग्रभिमन्यु उसको देखते ही क्रोध से जलने लगा, निम्बास बारस्बार उसका उषातर चलने लगा। "रे रे नराधम नारकी ! तू था बता श्रब तक कहां ?~ मैं खोजता फिरता तुभी सब श्रोर कब से हूं यहां। यह देख, मेरा बाण तेरे प्राण-नाश निमित्त है, तैयार हो, तेरे अघीं का आज प्रायिक्त है! सब सैनिकों के सामने ही ग्राज वध करके तुमें, संसार, में माता-पिता से है उऋण होना सुभी। मेरे करों-से अब तुभी कोई बचा सकता नहीं, पर देखना, रणभूमि से तू भाग मत जाना कहीं।" कह यों वचन अभिमन्यु ने छोड़ा धनुष से बाण को, रिपु भाल में वह घुस गया भट भेद शीर्ष-ताण को।

तब रक्त से भीगा इत्रा वह गिर पड़ा पाकर व्यथा, सन्धा समय पश्चिम-जल्धि में श्रुक्ण रवि गिरता यथा। मूर्कित समभ उसको समर से ले गया रथ-सारथी, लड़ने लगा तब नृप बहदुबल उचित नाम महारथी। कर खेल क्रीडासर्क हिर ज्यों मारता करि को कभी, मारा उसे श्रभिमन्यु ने त्यों किन करके तनु सभी ॥ उस एक ही श्रभिमन्य से यों युद जिस जिसने किया, मारा गया त्रथवा समर से विमुख होकर ही जिया। जिस भांति विद्युहाम से होती सुशोभित घन-घटा, सर्वेत्र क्रिटकाने लगा वह समर में श्रवच्छटा ॥ तब कर्ण द्रोणाचार्य क्रमाय्येय यो कहने लगा— "श्राचार्य। देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा। रष्ठवर-विशिख से सिन्धु-सम सब सैन्य इससे व्यस्त है। यह पार्थ-नन्दन पार्थ से भी घीर वीर प्रशस्त है। होना विसुख संग्रास से है पाप वीरों को सहा, यह सोच कर ही इस समय ठहरा हुआ हूं मैं यहां। जैसे बने श्रबं मार्ना ही योग्य इसको है यहीं, व सच जान लीजे अन्यया निस्तार फिर होगा नहीं ॥"-वीराग्रणी अभिमन्य । तुम हो धन्य इस संसार में, हैं शत्रु भी यों मग्न जिसके शीर्थ-पारावार में। होता तुम्हारे निकट निष्पुभ तेज शश्रिका, सूर का, वर्ते विपत्ती भी सदा गुण-गान सचे शूर का ॥ तब सप्त रिथयों ने वहां रत हो महा दुष्कर्म में— मिल कर किया आरमा उसको विद-कर्ना ममी में।

क्तप, कर्ण, दुःशासन, सुयोधन, शकुनि, सुत-युत द्रोण भी, उस एक बालक को लगे वे मारने बहु विध सभी ! अर्जुन-तनय अभिमन्यु तो भी अचलं-सम अविचल रहा, उन सप्त रिषयों का वहां श्राघात सब उसने सहा! पर एक साथ प्रहार-कर्ता हों चतुर्देश कर जहां, युग कर कही, क्या क्या यथायथ कर सकें विक्रम वहां ? कुछ देर में जब रिपु-शरीं से अध्व उसके गिर पड़े, तब ज़ूद कार रथ से चला वह थे जहां वे सब खड़े। जब तक प्ररीरागार में रहते जरा भी प्राण हैं, करते समर से वीर जन पीछे कभी न प्रयाण हैं॥ फिर नृत्य-सा करता हुआ धन्वा लिये निज हाथ में, लड़ने लगा निर्भय वहां वह शूरता के साथ में। या यदिप अन्तिम दृश्य यह उसकी अलीकिंक कमी का. पर मुख्य परिचय भी यही था वीर जन के धर्मी का॥ होता प्रविष्ट स्रीन्द्र-शावक च्यों गजेन्द्र-ससूह में ; करने लगा वह शीर्थ खों उन वैरियों के व्यूह में। तब क्रोड़ते कोदग्ड से सब ग्रोर चग्ड-ग्ररावली, मार्तग्छ-मग्डल के उदय की कृवि मिली उसको भली॥ यों विकट विक्रम देख उसका धैर्थ रिपु खोने लगे, उसके भयद्वर वेग से ग्रस्थिर सभी होने लगे। हंसने लगा वह वीर उनकी धीरता यह देख के, फिर यों वचन कचने लगा तृण-तुल्य उनको लेख के-"मैं एक, तुम बहु सहचरीं से युक्त विश्वत सात हो, एकत फिर अन्याय से करते सभी आघात हो।

होते विसुख तो भी अहो! भिलता न मेरा वार है, तुम वीर कैसे हो, तुन्हें-धिकार सी सी वार है॥" उस श्र के सुन यों वचन बोला सुयोधन आप यों— "है काल अब तेरा निकट करता अनर्थ प्र**लाप क्यों** ? नैसे वने निज वैरियों के प्राण हरना चाहिए, निज मार्ग निष्कार्टक सदा सब भांति करना चाहिए॥" "यह कथन तेरे योग्य ही है" प्रथम यों उत्तर दिया, खरतर-शरों से फिर उसे श्रभिमन्य ने मूर्च्छित किया। उस ममय ही जो पार्ख से छोडा गया या तान के. उस कर्ण-गर ने चाप उसका काट डाला ग्रान के॥ तव खींच कर खर-खड़ फिर वह रत हुआ रियु-नाश में, चमकी प्रलय की विजलियां घनघीर समराकाश में। पर हाय। वह त्रालोक-मण्डल त्रल ही मण्डित हुन्ना, वच्चक-विपची बन्द से वह खड़ भी खिएडत हुआ, यों रिक्त-इस्त हुआ जहां वह वीर रिपु-संघात में। घुसने लगे सव शत्रुश्रों के बाण उसके गात में। वह पार्डु-वंश प्रदीप यों शोभित हुआ उस काल में— सुन्दर सुमन च्यों पड गया हो कर्एकों के जाल में॥ संग्राम में निज शतुओं की देख कर यह नीचता, कहने लगा वह यों वचन दुग युग करों से मींचता— "नि:श्रख पर तुम वीर वन कर वार करते हो श्रहो! है पाप तुमको देखना भी पामरों! समुख न हो॥ दो शब पहले तुम मुक्ते, फिर युद सब मुक्तसे करो, यों खार्थ-साधन के लिए मत पाप-पथ में पद धरी।

कुछ प्राण-भिचा मैं न तुमसे मांगता इं भौति से, वस ग्रख ही मैं चाहता ह्र' धर्मा-पूर्वक नौति से। कर में मुभी तुम शब देकर फिर दिखाओं वीरता, देखूं यहां फिर मैं तुम्हारी धीरता, गमीरता। हो सात क्या, सी भी रहो, तो भी रलाज' में तुन्हें, कर पूर्ण रण-लिपा अभी चण में सुलाऊ में तुम्हें॥ नि:ग्रस पर श्राघात करना सर्वेषा श्रन्याय है, स्त्रीकार करता बात यह सब शूर-जन-समुदाय है। 👵 पर जान कर भी हा ! इसे ग्रातो न तुमको लाज है ! होता कलिङ्कत त्राज तुमसे शूरवीर-समाज है। हैं नीच ये सब शूर पर श्राचार्थ ! तुम 'श्राचार्थ' हो, वर वीर-विद्या-विज्ञ मेरे तात-शिच्चक श्रार्थ्य हो। - फिर-श्राज इनके साथ तुमसे हो रहा जो कमी है, में पूछता हं, वीर का रण में यही का धर्म है ? यह सत्य है कि अधर्म से मैं निहित होता हूं, अभी, पर शीघ्र इस दुष्कर्म का तुम दण्ड पात्रोगे सभी। क्रोधाग्नि ऐसी पाण्डवों की प्रज्वलित होगी यहां, तुम शीव्र जिसमें भस्र होगे तूल-तुल्य जहां तहां ॥ मैं तो अमर होकर यहां अब शीघ्र सुरपुर को चला, पर् याद रक्खे, पाप का होता नहीं है फल भलाः। तुम और मेरे अन्य रिपु पामर कहावेंगे सभी, सुन कर चरित मेरा सदा आंस् बहावेंगे सभी ॥~ -हे तात ! हे मातुल ! जहां हो है प्रणाम तुन्हें वहीं, अभिमन्यु का इस भांति मरना भूल मत जाना कहीं।" कहता हुआ वह वीर यों रण-भूमि में फिर गिर पड़ा, हो भड़ शृह सुमेर गिरि का गिर पड़ा हो ज्यों बड़ा। दस भांति उसको भूमि पर देखा पतित होते यदा, दुःशील दुःशासन-तनय ने शीश में मारी गदा। हग बन्द कर तब वह यशोधन सर्वदा को सो गया; हा! एक अनुपम रत्न मानों मेदिनी का खोगया॥ हे वीरवर अभिमन्यु! अब तुम हो यदिप सुर=लोक में, पर अन्त तंक रोते रहेंगे हम तुम्हारे शोक में। दिन दिन तुम्हारी कोर्ति का विस्तार होगा विश्व में, तब शतुओं के नाम पर धिकार होगा विश्व में॥

माहभूमि

[वावू मैथिलीशरण गुप्त]

नीलाखर परिधान हरित पट पर सुन्दर है, सूर्य-चन्द्र युग मुक्कट, मेखला रत्नाकर है। निद्यां प्रेम-प्रवाह, फूल तारे-मण्डल हैं; वन्दी विविध विहंग, शेष-फन सिंहासन है। करते श्रभिषेक पयोद है, बिलहारी इस वेश की। है मालभूमि तू सत्य ही, सगुण सूर्ति सर्वेश की॥१॥ सतक समान अग्रत विविश श्रांखों को मीचे;
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे!
करके जिसने क्रपा हमें अवलम्ब दिया था;
लेकर अपने अतुल श्रंग में व्राण किया था।
जो जननी का भी सर्वदा,
थी पालन करती रही।
तू क्यों न हमारी पूज्य हो,
मात्रभूमि मातांमही ॥२॥ -

जिसकी रज में लोट-लोटकर बड़े हुए हैं;

बुटनों के बल सरक-सरककर खड़े हुए हैं।

परमहंस-सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,

जिसके कारण 'धूलभरे हीरे' कहलाये।

हम खेले कूटे हर्ष-युत,

जिसकी प्यारी गोद में!
है माहभूमि! तुभको निरख,

मगन क्यों न हो मोद में ? ॥३॥

पालन, पोषण श्रीर जन्म का कारण तू ही;
वत्तः स्थल पर हमें कर रही धारण तू ही।
श्रभ्यंकष प्रासाद श्रीर ये महल हमारे;
बने हुए हैं श्रहो ! तुभी से तुभ पर सारे।

हे मात्म्भूमि जब हम कभी, शरण न तेरी पायंगे, बस तभी प्रलय के पेट में, सभी लीन हो जायंगे ! ॥॥॥

हमें जीवनाधार अन तू ही देती है ,

ब्दिलें में कुछ नहीं किसी से तू लेती है ।

श्रेष्ठ एक से एक विविध द्रव्यों के द्वारा ,

पोषण करती प्रेमभाव से सदा हमारा ।

हे मात्म्भूमि । उपनें न जो,

तुभसे कृषि अंकुर कभी ।

तो तहप-तहपकर जल मरें,

जठरानल में हम सभी ॥५॥

पाकर तुंभुसे सभी सुखों को इसने भोगा ,
तरा प्रत्युपकार कभी क्या इससे होगा ?
तरी ही यह देह तुभी से बनी हुई है ,
बस तरे ही सुरस-सार से सनी हुई है ।
हा। अन्त समय तू ही इसे,
अचल देख अपनायगी।
हे सात्थिमा। यह अन्त में ,
तुभमें ही सिल जायगी ॥६॥

जिन मिल्लों का मिलन मिलनता को है खोता,
जिस प्रेमी का प्रेम हमें सुददायक होता।
जिन खजनों को देख हृदय हिंदत हो जाता;
नहीं टूटता कभी जन्मभर जिनसे नाता।
जन सबमें तेरा सर्वदा;
व्याप्त हो रहा तत्व है।
हे मालभूमिं! तेरे सहण,
जिसका महा महत्व हैं?॥७॥

निर्मल तेरा नीर असत के सम उत्तम है;

शीतल मन्द सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है।

षट् ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अदुभुत क्रम है;

हरियाली का फ़र्श नहीं मख़मल से कम है।

शुचि सुधा सींचता रात में,

तुभ पर चन्द्र प्रकाश है।

हे मात्रभूमि! दिन में तर्णि,

करता तम का नाश है।

सुरभित सुन्दर सुखद सुमन तुभ पर खिलते हैं; '
भांति-भांति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं।
श्रीषधियां हैं प्राप्त एक से एक निराली;
खानें शोभित कहीं धातु-वर-रत्नोंवाली।

श्रावश्यक जो होते हमें, मिलते सभी पदार्थ हैं। वे माट्टभूमि! 'बसुधा' 'धरा' तेरे नाम यथार्थ हैं॥८॥

दीख रही है नहीं दूर तम शैल-श्रेणी,

कहीं घनाविल बनी हुई है तेरी वेणी।

निद्यां पैर पखार रही है बनकर चेरी,

फलों से तक्रांजि कर रही पूजा तेरी।

सटुमलय-वायु मानी तुमी,

चन्दन चाक चढ़ा रही।

है माढ़भूमि। किसका न तू;

साल्विक भाव बढ़ा रही ?॥१०॥

चमामयी तू द्यामयी है; चेममयी है;
सुधामयी, वात्तत्व्यमयी, तू प्रेममयी है;
विभवशास्त्रिनी, विश्वपास्तिनी, दुखहर्ती है,
भय-निवारिणी श्रान्तिकारिणी सुखनर्ती है;
हे श्ररणदायिनी देवि। तू,
करती सबका त्राण है।
हे माहभूमि। सन्तान हम,
तू जननी, तू प्राण है।।११॥)

श्रात ही उपकार याद हे माता ! तेरा,
हो जाता मन मुग्ध भित्त-भावों का प्रेरा,
तू पूजा के योग्य, कीर्ति तेरी हम गावें,
मन तो होता तुभी उठाकर शीश चढ़ावें;
वह शित्त कहां, हा क्या करें,
क्यों हमको लज्जा न हो।
हम माढ़भूमि ! केवल तुभी,
शीश भुका सकते श्रहो ! ॥१२॥

कारण-वश जब शोकदाह से हम दहते हैं,

तब तुम पर ही लोट-लोटकर दुख सहते हैं।

पाखंडी भी घूल चढ़ाकर तन में तेरी,

कहलाते हैं साधु, नहीं लगती है देरी।

इस तेरी ही श्रुचि घूलि में,

माढ़भूमि! वह शिक्त है।

जो क्रूरों के भी चित्त में,

हपजा सकती भिक्त है।

कोई व्यक्तिविशेष नहीं तेरा श्रपना है, जो यह समभे हाय। देखता वह सपना है। तुभको सारे जीव एकसे ही प्यारे हैं, कभीं के फल मात्र यहां न्यारे-न्यारे हैं। हे मात्मभूमि ! तेरे निकट, सब का सम सम्बन्ध है, जो भेद मानता वह ऋहो ! लोचनयुत भी ऋन्ध है ॥१४॥

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,

उसमें हे भगवान । कभी हम रहें न न्यारे ।
लोट-लोटकर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,

उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे ।

उस मात्रभूमि की धूल में ,

जब पूरे सन जायंगे ।
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम,
श्रात्मरूप बन जायंगे ॥१५॥

अन्वेषग

रामनरेश विपाठी (सवत् १९४६ वि•-वर्त्तमान)— प्रनका जन्म की प्ररीपुर, जिला
जीनपुरमें हुआ था। पय रचनामें इनकी श्रच्छी ख्याति है। प्रनकी कविता
वडी भावमयी होती है। (देखों "सीज्न डल है," पृष्ठ—गयाश, १०२।]

मैं ढूंढ़ता तुभी या जब कुड़ और वन में। तू खोजता सुभी या तब दीन के वतन में॥

तू श्राह बन किसी की मुसको पुकारता था।
मैं था तुसी बुलाता संगीत में, भजन में॥

मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।

मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में॥

बनकर किसी के श्रांस् मेरे लिए बहा तू।

मैं देखता तुभी था माशूक़ के बदन में॥

दुख से रुला रुलाकर तूने मुक्ते चिताया।

मैं मस्त हो रहा या तब हाय <u>अंजुमन</u> में!

बाजे बजा-बजाकर मैं था तुक्ते रिकाता।

तब तू लगा हुआ या पतितों के संगठन में ॥

मैं था विरक्त तुभासे जग की अनित्यता पर। उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में। तू बीच में खड़ा था बेबस गिरे हुओं के। मैं स्वर्ग देखता था भुकता कहां चरन में॥

तूने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं।
तू कर्म में मगन था, मैं व्यस्त था कथन में॥
हरिचंद और ध्रुव ने कुछ और ही बताया।
मैं तो समभ रही था तेरा प्रताप धन में॥

तेरा पता सिकन्दर को मैं समभ रहा था।
पर तू बसा हुआ था फ़रहाद कोहकन में ॥
स्त्रीसस की हाय में था करता विनोद तूही।
तू ही बिहंस रहा था सहसूद के ददन में ॥

प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना।
तूही मचल रहा था मंसूर की रहन में॥
त्राखिर चमक पड़ा था गांधी की हिड्डियों में।
मैं तो समभ रहा था सहराबपील-तन में॥

कैसे तुमि मिलूंगा जब भेद इस क़दर है। हैरान होके भगवन आया हं मैं सरन में॥ तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में। तूप्राण है पवन में, विस्तार है गगन में॥

तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुसलिमों में। विश्वास क्रिश्चियन में तू सत्य है सुजन में॥ ें हे दीनवन्धु! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू। देखूं तुभी हगों में, मन में तथा वचन में॥

कितनाइयों, दुखों का इतिहास ही स्यय है।

सुभको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में॥

दुख में न हार मानूं, सुख में तुभी न भूलूं।

ऐसा प्रभाव भर दे, मेरे अधीर मन में॥

घट

[बाबू सियारामश्ररण ग्रप्त (संवत् १८५२-वर्षमान)—ये बाबू मैथिलीशरणजीके छोटे भाई हैं। ये भी एक प्रतिभाशाली कवि हैं और छोटी छोटी कहानिया भी शच्छी लिखते हैं।]

क्रिटल कंकड़ों की कर्कश रज मलमलकर सारे तन में, विस निर्मम निर्दय ने सुभाको बांधा है इस बन्धन में ? फांसी-सी है पड़ी गले में नीचे गिरता जाता हैं। बार-बार इस अन्ध-कृप में इधर उधर टकराता हैं। ऊपर-नीचे तम ही तम है; बन्धन है अवलम्ब यहां! यह भी नहीं समभ में त्राता गिरकर मैं जा रहा कहां। कांप रहा हूं; भय के मारे हुआ जा रहा हूं स्वियमाण, ऐसे दुखमय जीवन से हा! किस प्रकार पार्ज मैं प्राण ? सभी तरह हूं विवश, करूं क्या, नहीं दीखता एक उपाय ; यह क्या ? यह तो अगम नीर है, डूबा, अब मैं डूबा हाय! भगवन् ! हाय ! बचा लो श्रव तो, तुम्हें पुकारूं मैं जबतक, चुत्रा तुरन्त निमग्न नीर में आतनाद करके तब तक। ग्ररे, कहां वह गई रिक्तता ! भय का भी ग्रव पता नहीं ; गौरववान हुआ इं सहसा, बना रह्नं तो क्यों न यहीं ? पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा उज्ज्वलतर जीवन लेकर, तुमसे उच्चण नहीं हो सकता यह नवजीवन भी देकर।

उद्गार

[पं॰ मुकुटघर पांडिय (संवत १८५२-वर्तमान)—ये एक प्रतिभाशाली कवि हैं, संगीत के ने में हैं तथा गग्र लिखनेका भी अच्छा अध्यास है। वगलामें लिखी कई पुस्तकोंका हिन्दीमें अनुवाद किया है।

मेरे जीवन की लघु तरणी ! श्रांखों के पानी में तर जा। मेरे उर का छिपा ख्ज़ाना, अहङ्कार का भाव पुराना, वना त्राज तू सुक्ते दिवाना, तप्त खेद-बूंदों में ढर जा ॥१॥ मेरे नयनों की चिर आशा, प्रेम पूर्ण सींदर्थ पिपासा, मत कर नाइक और तमाशा, आ, मेरी आहीं में।भर जा ॥२॥ सदुल मनोरय-तर में फ्ला, फूल रंग में अपने भूला, भूल चुका वस, जो कुछ भूला, अब अपनी डाली से भर जा ॥३॥ चढ़ी दृदय में चिता कराला, जपर नम तक उठती ज्वाला, मरण दुःख ! ले मुक्तामाला, गिरकर अव्धूं उसमें तू मर जा ॥४॥ ऐ मेरे प्राणीं के प्यारे। इन अधीर आंखीं के तारे! वहुत हुआ मत अधिक सतारे। बातें कुछ भी तो अब कर जा ॥॥॥ मानस-भवन पड़ा है स्ना, तमोधाम का बना नमूना, कर उसमें प्रकाश अब दूना, मेरी उग्र वेदना इर जा ॥६॥ मोहित तुभाको करनेवाली, नहीं ग्राल मुख की वह लाली, इदय-यन्त्र यह रक्वा खाली, श्रव नूतन सूर उसमें भर जा ॥॥॥

त्रभिलाषा

[श्रीमतौ तोरनदेवी ग्रुक्त 'लली' (मंवत् १८५३-वर्तमान) — लगभग २० वर्षसे ये हिन्दी-पत्रपांचलाश्रींमें कविताएं लिखती श्रा रही हैं। काव्यचेचमें पदार्पण करने पर दनकी प्रतिभाका विकास हुआ श्रीर इस समय हिन्दी कविधितियोमें इनका सम्बन्धान है।]

सुभासे मिल जाना इक बार। कहां-कहां मैं ढूंढ़ रही हां, कबसे रही पुकार? सुभासे मिल जाना इक बार।

नव कुसमों की कुन्त-लता में निश्चि-तारों की सुन्दर्गता में। कुसुमित दल की माधुरता में।

वितना तुमको खोज चुकी ह्न", जिसका वार न पार। सुभसे मिल जाना इक बार ॥

> सरिता की गित मतवाली में, प्रिय वसन्त की हरियाली में, बाल-प्रभाकर की लाली में, निशानाथ की डिजयारी में।

श्राशावादी बनकर लोचन, श्रब तक रहे निहार। मुभसे मिल जाना दक बार॥

> श्रव देखूंगी उत्यानीं में, देश-प्रेम के श्रिभमानीं में, श्रमर सुयश श्रभ सम्मानीं में।

दर्शन होते ही तज दूंगी हिय वेदना श्रपार। सुभासे मिल जाना दक बार ॥

त्रांसू

[श्रीयुक्त मोहनलाल महतो (संवत् १८५१-वर्तमान)—इनकी कविताशों में बडे ही श्रच्छे भाव रहते हैं। इनका गद्य भी बडा कवित्वपूर्ण होता है। 'निर्माल्य', 'रेखा' श्रादि इनकी लिखी पुस्तकी वड़े श्रादरकी दृष्टिसे देखी जाती हैं।]

हे मेरी आंखों के आंस्। हे इस जीवन के इतिहास! क्लक पड़ो मत, रहो अन्त तक, उमड़े इस दुखिया के पास। हे करुणा के चिक्र। अहो अभिलाषा की नीरव भाषा। मत क्लको है टंगी हुई तुम पर ही मेरी ग्रभ आशा।

हृदय-वेदना के परिचायक । निराधार के है आधार । अन्तस्तल को धोनेवाले । हे मेरे सुमुक्त उदुगार । है मेरी असंख्य भूलों के मूर्तिमान सचे अनुताप । शीतल करते रहो सदा इस दग्ध हृदय का भीषण ताप।

हे कितनी घटनाओं की स्मृति । हे मेरी आखीं की लाज ! क्या जाने क्या, तुम्हें छलकता, देख कहेगा चुब्ध-समाज ? कितने स्नेह, शोक के हो उपहार-तुल्य तुम मेरे पास ? बात-बात में यों मत छलको, उठ जावेगा फिर विश्वास !!

बल न उठे जिससे सहसा वह बना रहे सुखदायक शान्त।
रक्षा है प्रज्वलित प्रेमको, तुममें डुवा, श्रहो उद्भान्त॥
वार-बार इस नीरस जग को, श्रपना रूप न दिखलाश्रो।
उषाकाल के तारागण से, इन नयनों में हिए जाश्रो।

हे मेरे इस जीवन भर की कठिन कमाई ! किंपे रहो। श्रावश्यकता नहीं तुम्हारी श्राई भाई ! किंपे रहो। नहीं सफ़ाई देने की बारी श्राई है किंपे रहो। नहीं भलक श्रव तक प्रियतम ने दिखलाई है किंपे रहो॥

यों ही उलक पड़ोगे तो मिट्टी में मिल जाओगे यार। 'लोचन जल रहु लोचन कोना,' यही विनय है बारम्बार ॥

मेरा नया बचपन

[श्रीमती सुभद्राक्तमारी चौहान (संवत् १८६१ वि०-वर्त्तमान)— ये खंडवा-निवासी ठाक्तर जल्लाणसिंह चौहान, बी० ए०, एल-एल० बी० की धर्मपत्नी हैं। हिन्दी की वर्त्तमान स्त्री-किवयों में इनका स्थान सबसे खंचा है। इनकी किवताशों की भाषा विग्रंड श्रीर परिमार्जित तथा भाव छन्नकी दिने होते है। इनकी किवताएं जिनमें देशप्रेम भरा रहता है, पत्र-पित्तकाशों में बराबर निकला करती हैं श्रीर लीग छन्हें बर्ड घावसे पढते हैं।

बार बार श्राती है सुभको सधुर याद बचपन तेरी। गया, ले गया तू जीवन की सब से मस्त खुशी मेरी॥

चिन्ता-रहित खेलना-खाना वह फिरना निभेय खच्छन्द। कैसे भूला जा सकता है बचपन का अतुलित आनन्द?

जंच-नीच का ज्ञान नहीं था कुआकृत किसने जानी ? बनी हुई थी अहा। भोपड़ी— श्रीर चीथड़ों में रानी॥

किये दूध के कुले मैंने चूस अंगूठा सुधा पिया। किलाकारी कालील मचाकर सूना घर आबाद किया॥

रोना श्रीर मचल जाना भी क्या श्रानन्द दिखाते थे। बड़े-बड़े मोती-से श्रांस् जयमाला पहनाते थे॥

> में रोयी, मां काम छोड़कर श्रायी, मुभको उठा लिया। भाड़-पोंछ कर चूम-चम गीले गालों को सुखा दिया॥

दादा ने चन्दा दिखलांया, नेत्र-नीर द्रुत दमक उठे। धुली हुई सुसकान देख कर सब के चेहरे चमक उठे॥

> वह सुख का साम्त्राच्य छोड़कर, मैं मतवाली बड़ी हुई। लुटी हुई, कुछ ठगी हुई-सी दीड़ दार पर खड़ी हुई॥

मैं बचपन को बुला रही थी बोल उठी बिटिया मेरी। नन्दन वन-सी फल उठी यह छोटी-सी कुटिया मेरी॥

'मां ओ' कहकर वुला रही थी मिट्टी खाकर आयी थी। कुछ मुंह में कुछ लिये हाथ में मुभे खिलाने आयी थी।

> पुलक रहे घे श्रङ्ग, हगों में कीतूहल या छलक रहा। मुंह पर यी श्राह्माद-लालिमा विजय-गर्व या भलक रहा॥

मैंने पूछा "यह का लायी?" बोल उठी वह "मां, काश्रो।" हुआ प्रफुक्तित हृदय खुशी से मैंने कहा—"तुम्हीं खाश्रो॥"

> पाया मैंन बचपन फिर से बचपन बेटी बन श्राया। उसकी मञ्जुल मृक्ति देखकर सुभ में नवजीवन श्राया॥

मैं भी उसके साथ खेलती— खाती इं, तुतलाती इं। मिलकर उसके साथ स्वयं मैं भी बची बन जाती हं॥ जिसे खोजती थी बरसों से अब जाकर उसको पाया। भाग गया था सुभी छोड़कर वह बचपन फिर से आया॥

वालिका का परिचय

[श्रीमती सुभद्राज्ञनारी चौहान]

यह मेरी गोदी की शोभा सुख-सुहाग की है लाली। शाही शान भिखारिन की है मनो - कामना - मतवाली॥

दीप-शिखा है अन्धकार की घनी घटा की उजियाली। जुषा है यह कमल-भृङ्ग की है पतमड़ की हरियाली॥

सुधाधार यह नीरस दिल की मस्ती मगन तपस्ती की। जीवित ज्योति नष्ट नयनों की सन्ती लगन मनस्ती की॥ बीते हुए बालपन की यह क्रीड़ा-पूर्ण वाटिका है। वही मचलना, वही किलकना इंसती हुई नाटिका है॥

मेरा मन्दिर, मेरी मसजिद काबा-काशी यह मेरी। पूजा-पाठ, ध्यान-जप-तप र घट-घट-वासी यह मेरी॥

क्षणाचन्द्र की क्रीड़ाश्रों को अपने श्रांगन में देखी। कीणल्या के मात्रमोद को अपने ही मन में लेखी॥

प्रभु ईसा की चमाशीलता नबी मुहमाद का विश्वास। जीव दया जिनवर गीतम की आश्री देखी इसके पास।

परिचय पूछ रहे हो सुभासे,
कैसे परिचय दूं इसका ?
ं वही जान सकता है इसको,
माता का दिल है जिसको॥

हिमालय

[बाबू रामधारी सिंह 'दिनकर', बी॰ ए॰ (संवत् १८६५-वर्त्तमान)—ये नवीन धाराके कि कि हैं। इनकी भाषा भावके साथ चलनेवाली श्रीर मधुर होती है। इनकी रचनाश्रोंमें 'नयी दिल्ली', 'हिमालय' श्रादि बडी सुन्दर हैं। इनकी किवताएं उचकीटिकी होती हैं।]

मेरे नगपति ! मेरे विश्वाल ! साकार दिव्य गीरवं विराट ! पौरुष के पुन्तीभूत जाल ! मेरी जननी के हिम किरोट ! मेरे भारत के दिव्य भाल ! मेरे नगपति ! मेरे विश्वाल !

युग-युग अजेय, निर्वन्ध, मुक्त,
युग-युग गर्वोत्रत, नित महान,
निस्तीम व्योम में तान रहे
युग से किस महिमा का वितान ?
कैसी अखण्ड यह चिर समाधि ?
यितवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तुम महायून्य में खोज रहे
किस जटिल समस्यका निदान ?
उल्लेभन का कैसा विषम जाल ?
भेरे नगपति ! मेरे विश्वाल !

श्रो मीन तपस्यानीन यती! पल भर तो कर ली हगीकोष : हो ज्वालाश्रों से दग्ध विकल है तड़प रहा पद पर खदेश। सुख सिन्धु, पञ्चनद, ब्रह्मपुत्र, गङ्गा, यसुना की असिय धार जिस पुख्य भूमि की ग्रोर वहा श्रपनी विगलित कर्णा उदार, जिसके हारों पर खडे क्रान्त सीमापति । तुम ने की प्रकार— "पद-दलित इसे करना पीछे पहले लो मेरा शिर जतार।" उस पुर्णभूमि पर त्रान यती। है, श्रान पड़ा संकट कराल, व्याकुल तव संतति तड़प रही।

> दारुण दु:ख ज्वाला में विहाल । मेरे नगपति । मेरे विशाल

कितनी मिण्यां लुट गयों, मिटा कितना वैभव अनुपम अशेष! तुम ध्यान मग्न हो रहे, इधर वीरान हुया अपना खदेश। कितनी द्रुपदा के खुले बाल। कितनी कलियों का अन्त हुआ!

कह हृदय खोल चित्तीड़ ! यहां कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ ? पूछो सिकता कण से हिमपति! वह प्यारा राजस्थान कहां ? वन वन खतन्त्रता दीप लिए फिरने वाला बलवान कहां ? पूछो रघुपुर से राम कहां ? बन्दा ! कहदे, घनश्याम कहां ? श्रो मगध ! कहां मेरे श्रशोक ? वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहां ? पैरों पर ही है पड़ी हुई मिथिला भिखारिणी सुकुमारी। पूछो किस रजनी में खई' अपनी अनन्त निधियां सारी ? री कपिलवस्तु ! कह बुंबदेव-के वे मङ्गल-उपदेश कहां ? े तिब्बत, इरान, जापान चीन तक गये हुए संदेश कहां ? वैशाली के भग्नावशेष से तुम पूछो लिछवी शान कहां ? श्रो री उदास गंडकी; बता विद्यापति कवि के गान कहां ? कर मौन त्याग पूछो विशाल वंगाल नवाबी ताज कहां ?

भारत का अन्तिम ज्योति-नयन

मेरा प्यारा शीराज कहां ?

कह दे यह तर् ए देश तुमसे,
गूंजा यह कैसा ध्वंस राग ?

अम्बुधि अन्तस्तल बीच हिपी

यह सुला रही है कीन आग ?

प्राची के प्रांगण बीच देख

जल रही खर्ण युग-अग्नि ज्वाल !

कर सिंहनाद जागो तपसी !

मेरे नगपति । मेरे विशाल !!

लो अंगड़ाई हिल उठे घरा कर दो विराट खर में निनाद! तुम श्रेलराद! इंकार भरो फट जाय कुहा, भागे प्रमाद! कह दो अजातिरपु से जावें चाहे सुरपुर को हे असीम! दो फिरा हमें 'गागड़ीव', 'गदा' लीटा दो अर्जुन, वीर भीम! कह दो शंकर से आज करें वह प्रलय कृत्य फिर एकबार, सारे भारत में गूंज उठे ''हर हर बम" का फिर महोशार तुम मीन त्याग कर दो निनाद है यती ! त्राज तप का न काल । युग-युग-शंख-ध्वनि जगा रही तुम जागो, जागो, हे विशाल !

मेरी जननी के हिम किरीट मेरे भारत के दिव्य भारत । नव युग-शंख ध्वनि जंगा रही जागो नगपति । जागो, विशाल !